I.S.S.N. 0975-6531

₹70/-

वैचारिकी

VAICHARIKI

सितम्बर-दिसम्बर (संयुक्तांक) 2022 * भाग 38 - अंक 5-6

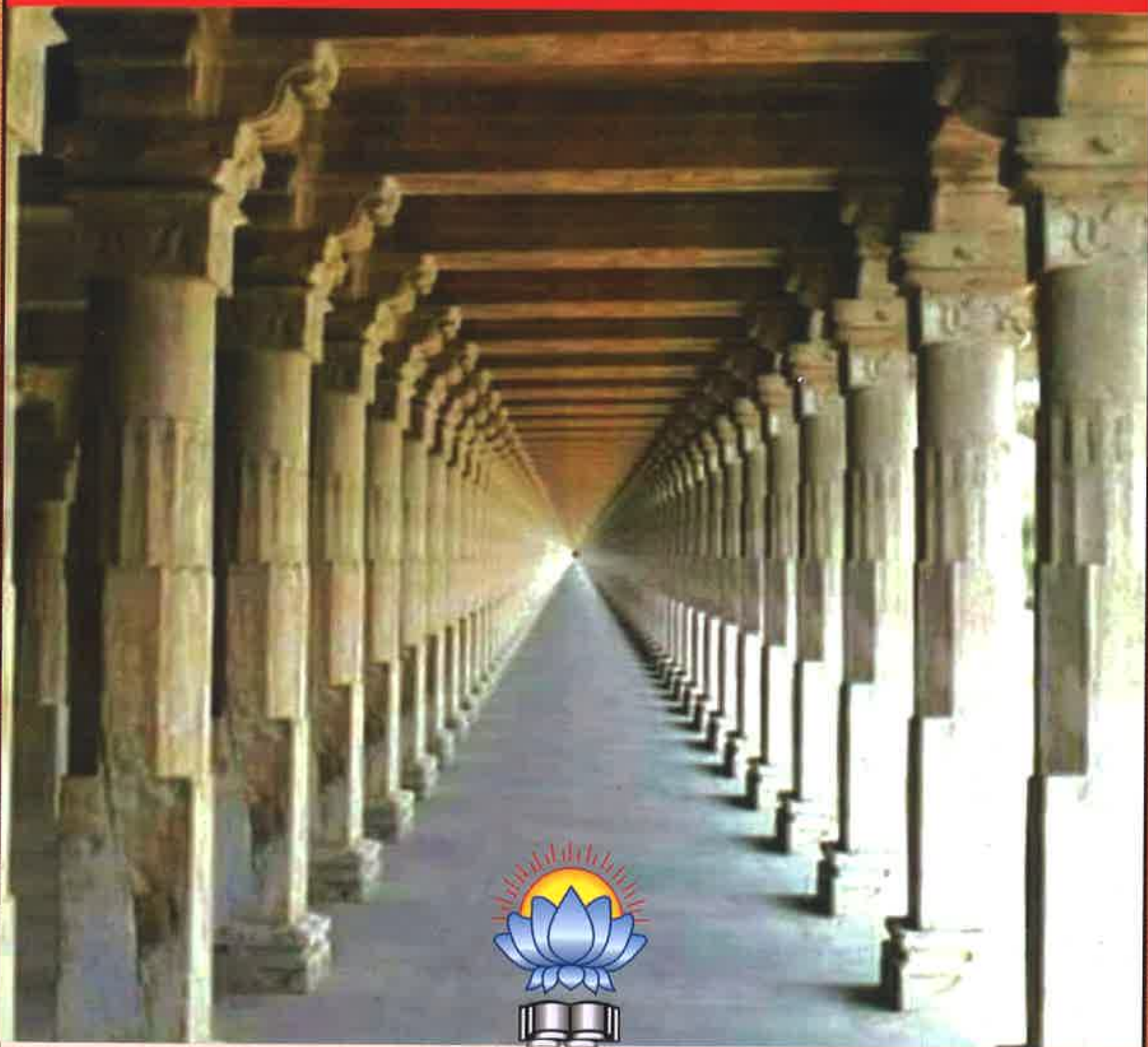

भारतीय विद्या मन्दिर

की

द्वैमासिक शोध-पत्रिका

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

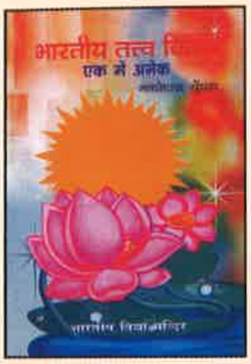

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190
ISBN : 978-81-89302-15-9

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165
ISBN : 978-81-89302-16-7

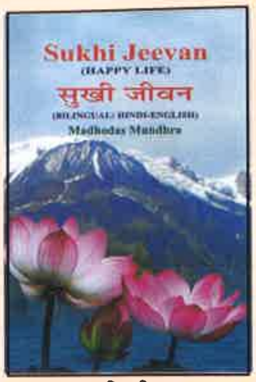

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216
ISBN : 978-81-89302-52-8

राजस्थान राग-रस-रंग
डॉ. रामेश्वर 'आनंद' सोनी
मूल्य 500/- पृ. सं. 384
ISBN : 978-81-89302-33-7

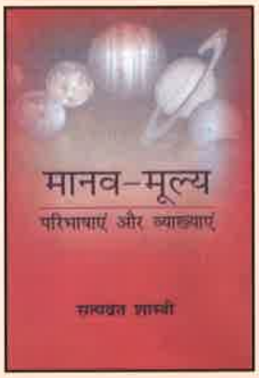

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304
ISBN : 978-81-89302-52-8

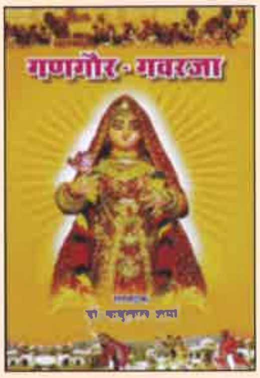

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264
ISBN : 978-81-89302-63-4

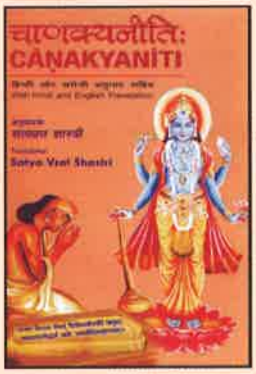

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194
ISBN : 978-81-89302-42-9

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-
ISBN : 978-81-89302-35-1

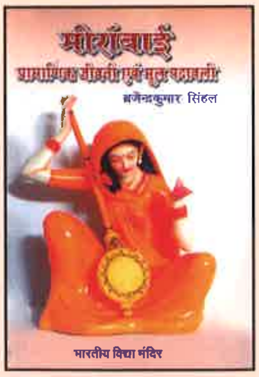

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584
ISBN : 978-81-89302-41-2

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

ISSN 0975-6531

वैचारिकी

भाग : 38 अंक : 5-6

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

सितंबर-दिसंबर, 2022 ईस्वी ✷ भाद्र शुक्ल 5, से पौष शुक्ल 9, वि. सं. 2079 ✷ ₹ 70/-

अनुक्रम

- अध्यक्षीय 3
- संपादकीय 8
- डॉ. राम गोपाल शर्मा दिनेश की साहित्य-साधना 13
  डॉ. मुरलीधर पण्ड्या

अज्ञेय के काव्य में अलंकार 23
डॉ. मनमीत कौर

आत्मसंघर्ष का कवि : मुक्तिबोध 27
डॉ. राजकुमार खटीक

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में प्रभा खेतान की काव्य-चेतना 33
कुमारी अनुपम

आनन्दभाव का काव्य : डूबो मत, लगाओ डुबकी 42
डॉ. सूफिया यास्मीन

हिंदी कविता में कश्मीर की नैसर्गिकता के विविध रंग 45
उमर बशीर

प्रेमचन्द के उपन्यासों में समस्यामूलकता 49
डॉ. विक्रम सिंह

समकालीन महिला कहानी लेखन : विविध सरोकार 53
डॉ. सुरेश सिंह राठौड़

राजी सेठ के उपन्यासों में दुनिया के दस्तूर 60
डॉ. डी. एन. प्रसाद

संजीव के उपन्यासों में जंगल-जमीन-खदान 65
गीता दूबे

थर्ड जेंडर की समस्याएँ : पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा के आईने में 71
कृष्णा कुमारी

समकालीन हिंदी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ 75
डॉ. पी. बालाजी

तमिल उपन्यास साहित्य : एक विहंगावलोकन 79
डॉ. वासुदेवन 'शेष'

पाठक-मंच 84
बहु आयामी साहित्यकार : कवि कुसुमाग्रज वि.वा. शिरवाडकर (डॉ. विद्या केशव चिटको) **महिला उपन्यासकारों की स्त्री** (डॉ. वासुदेवन 'शेष') **प्राचीन भारतीय ताल-वाद्य : तबला** (सब्यसाची चट्टोपाध्याय)

प्रतिस्वर 93

आवरण : रामेश्वरम् मंदिर के स्तंभ

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700 087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com
Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 400/- रुपये
द्वैवार्षिक 800/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c No. : 32030320176
Bank : STATE BANK OF INDIA
Branch: New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

श्री वल्लभाचार्य का सांस्कृतिक अवदान

दीपावली की हार्दिक शुभकामनाएं, रामा-स्यामा।

भारतीय संस्कृति का प्रधान तत्त्व धर्म-दर्शन है जिसके निर्माण में अनेक धर्माचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मैं यहां आचार्य श्रीवल्लभ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करना चाहता हूं। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी का जन्म वि. संवत 1535 (1478 ई.) में तेलंगाना प्रदेश के ग्राम चंपारण्य में हुआ। यद्यपि उनका पैतृक स्थान तेलंगाना में कांकरवाड़ ग्राम है। इनका परिवार सोमयागी था। इनके पूर्वज यज्ञनारायण भट्ट जब सोमयज्ञ का आयोजन कर रहे थे, उस समय देववाणी हुई कि जब आपके परिवार में 100 यज्ञ पूर्ण होंगे तब पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण अवतार लेंगे। पश्चात श्री लक्ष्मण भट्ट ने अंतिम सोमयज्ञ किया तो 100 यज्ञ पूरे हो गये। श्री लक्ष्मण भट्ट काशी आये थे। यहां पर कुछ समय उनका निवास करने का विचार था। इस समय दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी के शासनकाल (1451-1489 ई.) में उसके पुत्र सिकंदर लोदी ने काशी पर आक्रमण कर दिया, तब इन्होंने काशी छोड़कर अपने गांव जाना उचित समझा। उन दिनों यात्राएं पैदल ही हुआ करती थी। इनकी पत्नी श्रीमती इलम्मागारु गर्भवती थी। चंपारण्य के नजदीक जब वे पहुंचे तो रात का आगमन हो रहा था। वहीं पर सात मास की गर्भवती इलम्मागारु को प्रसव पीड़ा हुई और उन्होंने एक शिशु को जन्म दिया जो हिलडुल नहीं रहा था। लक्ष्मण भट्ट ने उसे मृत समझकर कपड़े में लपेटकर एक शमी वृक्ष के कोटर (खोखले तने) में रख दिया और आगे जाकर नजदीक के एक गाँव में विश्राम किया। दूसरे दिन वापिस उसी रास्ते से चंपारण्य जाते हुए उन्होंने देखा कि उस वृक्ष के चारों ओर अग्नि का वृत्त बना है और उसी कोटर में रखा शिशु कुछ-कुछ बोल रहा है। इलम्मागारु मातृत्व के आवेग में अग्नि-वृत्त पार कर शिशु को ले आई। तभी समाचार आया कि काशी का उपद्रव शांत हो चुका है, तब श्री लक्ष्मण भट्ट, पत्नी और नवजात शिशु सहित वापिस काशी लौट आये। श्री लक्ष्मण भट्ट ने शिशु का नाम श्रीवल्लभ रखा। श्रीवल्लभ का शैशव काशी में ही बीता और पिता के संरक्षण में ही उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात श्री माधवेन्द्र पुरी, श्री विणुचित तिरुमल, श्री गुरुनारायण दीक्षित से भी इन्होंने शिक्षा ली। श्री वल्लभ इतने तीव्र बुद्धि के थे कि अल्प समय में वे वेद-वेदांत और शास्त्रों में पारंगत हो गये।

काशी में श्री लक्ष्मण भट्ट का देहांत हो गया तब माता इन्हें लेकर वापिस तेलंगाना की तरफ आ गयी। यहां पर विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय का शासन (1509-1529 ई.) था। राजा कृष्णदेव राय वीर तो थे ही साथ में धर्मपरायण थे और विद्वानों की सत्संग करते रहते थे। श्री वल्लभ के मामा राजा कृष्णदेव राय के दरबार में कोषाध्यक्ष थे। उस समय एक शास्त्रार्थ का आयोजन कृष्णदेव राय की सभा में हो रहा था। जैसा कि पढ़ने में आता है उसमें दो पक्ष थे। एक शंचराचार्य के मत के मायावादी आचार्य जो इस जगत् को माया तथा मिथ्या प्रतिपादित करते थे। दूसरी तरफ रामानुज, मध्व आदि वैष्णव मत के आचार्य थे जो मायावाद एवं जगत् मिथ्या के विरोध में थे। शास्त्रार्थ के तर्क में वैष्णव पक्ष कुछ दब रहा था। इस समय श्री वल्लभ की आयु सिर्फ 11 वर्ष की थी, वे भी शास्त्रार्थ में पधारे और प्रतिद्वंद्वी मायावादी मतों से इनका शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें उन्होंने अपने तर्कों से मायावादियों को निरुत्तर कर दिया। राजा कृष्णराय ने इन्हें विजयी घोषित किया और जगत्गुरु आचार्य की पदवी से सम्मानित किया। परंपरा के अनुसार विजयी विद्वान का कनक-अभिषेक होता था जिसमें एक पात्र में सोने की मोहरें रखकर, जल डालकर अभिषेक स्नान होता है। कनकाभिषेक संपन्न हुआ और मोहरें श्रीवल्लभ को समर्पित की गयी परंतु उन्होंने लेने से मना कर दिया और कहा कि ये स्नान किए हुए जलवत हैं इन्हें बांट दीजिए। तत्पश्चात् अलग से थाली भर सोने की मोहरें भेंट की गई तो उन्होंने उनमें से सात मोहरें लेकर बाकी वापिस लौटा दी, यह कहते हुए कि दैवी द्रव्य केवल सात हैं अतः मैं इनमें से सात मोहरें स्वीकार करता हूं बाकी आप बांट दीजिए। इससे आपकी कीर्ति दिग्-दिगंत में फैल गयी। वहां से फिर आप ब्रज की तरफ आये। दामोदरदासजी हर्षानी इनके प्रथम शिष्य के रूप में इनके साथ में थे। यहाँ सावण के कृष्ण पक्ष की एकादशी को जब एक शमी वृक्ष के नीचे आप विश्राम कर रहे थे तो उस समय पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इनके सामने साक्षात प्रकट हुए और उन्हें आदेश दिया कि जीवों का उद्धार हेतु उनका ब्रह्म से संबंध करवाओ। उन्होंने पूछा कि प्रभु मानव की देह तो अनेक दोषों से परिपूर्ण है उसका ब्रह्म संबंध कैसे होगा। तब भगवान ने आज्ञा की तुम जिस जीव का ब्रह्म से संबंध करवाओगे वह शुद्ध हो जायेगा जैसे कोई जल गंगा में मिल जाये तो गंगावत हो जाता है। प्रभु की यह आज्ञा पाकर दूसरे दिन ही उन्होंने दामोदरदासजी हर्षानी का ब्रह्म संबंध करवाया और उसके बाद उनके बहुत से शिष्य होते गये। इनमें कृष्णदास नेगने उल्लेखनीय हैं जो आपके वचनों को लीपिबद्ध करते जाते थे। फिर आप यात्रा करते-करते श्री गोवर्द्धन के पास पहुंचे। वहां पर देव-दमन प्रभु श्रीनाथजी का प्रागट्य हुआ। गोवर्द्धन पर्वत पर गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण की यह मूर्ति जहाँ गुप्त थी वहां पर ब्रजवासी उनको दूध-दही का भोग धरते थे। गोवर्द्धन के पास आन्योर गांव में आपश्री ने गांव के मुखिया श्री सद्दू पांडे के चबूतरे पर विश्राम किया। सायं के समय पहाड़ पर से आवाज आई 'नरो मेरो दूध ल्याव', नरो सद्दू पांडे की लड़की थी। नरो ने आवाज दी, अभी आई लला, ठहरो यहां घर में पाहुने आये हैं। वापिस आवाज आई कि पाहुने आये हैं सो भले, पर मेरो दूध पहिले ल्याव। नरो जल्दी-जल्दी कटोरा भरकर दूध लेकर गोवर्धन पर्वत पर गयी। वापिस जब आई तब आचार्यश्री ने नरो को कहा कि इसमें कुछ बचा हो तो मुझे दे। उसमें थोड़ा-सा दूध था जो आपने प्रसाद रूप में ग्रहण किया। दूसरे दिन सुबह-सुबह आपश्री सद्दू पांडे व ग्रामवासियों के साथ पहाड़ पर गये और पहाड़ की खोह में से श्रीनाथजी (गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण की मूर्ति) को बाहर पधराया तथा उनकी सेवा के लिए ब्रजवासियों को आपने कहा। ब्रजवासी पहले से ही दूध-दही का यथाशक्ति भोग धरते थे लेकिन उन्होंने कहा कि हम कृषि करने वाले ग्रामवासी हैं, हम सेवा करना नहीं समझते। तब उन्होंने सेवा मे लिए श्री रामदास चौहान को प्रथम सेवक नियुक्त किया और एक घास-फूस का छप्पर बनाकर श्रीनाथजी को उसमें विराजमान किया।

कुंभनदासजी भी आन्योर निवासी थे और खेती करते थे, उन्हें कीर्त्तन-सेवा का भार दिया। कुंभनदासजी

बहुत बड़े गायक थे और स्वरचित रचनाओं से भगवत-गुणगान किया करते थे। इस प्रकार श्रीनाथजी की सेवा आरंभ हो गई। रामदासजी चौहान भगवत-शरण हो गये तो गिरिराजजी (गोवर्द्धन) की तलहटी में रहने वाले बंगालियों को सेवा में नियुक्त किया और श्री कृष्णदास को अधिकारी बनाया गया जो जगह-जगह जाकर श्रद्धालुओं से भेंट ले आते थे और मंदिर की व्यवस्था देखते थे। फिर परमानंददासजी, सूरदासजी, कृष्णदासजी आपके शिष्य हुए जिनको कीर्त्तन-सेवा में लगा दिया। आपश्री का प्रयाग में गंगा के पार अरैल गांव में मुख्य निवास स्थान था। काशी भी आप समय-समय विराजते रहे जहां पर विद्वानों से शास्त्रार्थ होता था। जब शास्त्रार्थी विद्वानों की भीड़ अधिक बढ़ने लगी तो इन्होंने एक पत्र में अपने कुछ सिद्धांतों को लिखकर काशी विश्वनाथ मंदिर की दीवार पर चिपका दिया कि जिन विद्वानों को कुछ शंका हो तो पहले वे इसे पढ़ लें और फिर जरूरी को तो मिल लें, उसे पत्रावलंबन ग्रंथ कहा जाता है। आपके शिष्य बहुत हुए। तीन बार आप देशाटन करने निकले और स्थान-स्थान पर श्रीमद्भागवत का सप्ताह पारायण किया। जिन स्थानों पर इन्होंने सप्ताह की वे आज महाप्रभुजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध हैं। देश में ऐसी 84 बैठकें हैं। गुजरात से लेकर अरैल तक और बद्रिकाश्रम से लेकर दक्षिण में तिरुपति तक ये बैठकें विद्यमान हैं।

माताश्री के आदेश से आपने पं. देवभट्टजी की पुत्री महालक्ष्मीजी से विवाह किया। आपके गोपीनाथजी और बिट्ठलनाथजी दो पुत्र हुए। बल्लभ संप्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग में गोपीनाथजी को बलदेवजी का और बिट्ठलनाथजी को श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है जिनकी विद्वत्ता व आपके विचारों, सिद्धांतों से प्रभावित होकर बड़ी संख्या में आपके अनुयायी-सेवक हुए। श्री वल्लभ का जीवन-चरित्र अद्भुत है, मैंने बहुत संक्षेप में उसके कुछ अंश लिखने की चेष्टा की है। आपने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य तथा श्रीमद्भागवत के प्रथम, द्वितीय और दशम स्कंध की व्याख्या अपने सुबोधिनीजी ग्रंथ में की है। वैष्णवों के लिए सिद्धान्त समझाते हुए आपने 16 ग्रंथ (1. श्रीयमुनाष्टकम् 2. बालबोध 3. सिद्धान्त मुक्तावली 4. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद 5. सिद्धान्तरहस्यम् 6. नवरत्न 7. अन्तःकरणप्रबोध 8. विवके-धैर्याश्रम 9. कृष्णाश्रय स्तोत्रम 10. चतुःश्लोकी 11. भक्तिवर्धिनी 12. जलभेद 13. पंचपद्यानि 14. सन्यास-निर्णय 15. निरोधलक्षणम् 16. सेवाफलम्) प्रकट किये जो षोडश ग्रंथ कहलाते हैं। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने अपने षोडश ग्रंथों में बारम्बार दृढ़तापूर्वक यह सुनिश्चित सिद्धांत दिया है कि पुष्टि जीवों के लिए अपने घर में रहकर पुष्टि पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा, ब्रजभक्तों के भावों का भावनात्मक अनुसरण करते हुए करना, अपने तन-मन-धन का भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में विनियोग करना (लगाना) और जब भगवत्सेवा का समय न हो तो उस अवसर पर भगवद्-भाव को बढ़ाने वाली भगवत् कथा का श्रवण-मनन-कीर्तन करना ही प्रथम और परम कर्त्तव्य है। भटकने वाले चित्त की सभी वृतियों का निरोध भगवत्-सेवा और भगवत्कथा में होना चाहिए। पुष्टिभक्त भगवत्सेवा द्वारा किसी भी फल की कामना नहीं करता। भगवत्सेवा करते-करते सभी इन्द्रियों से भगवद्-अनुभूति के रूप में जीव में जो अलौकिक सामर्थ्य प्रकट होता है, वही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है। इसमें देह-गेह-संसार आदि अन्य किसी की स्फूर्ति न होकर निरन्तर प्रभु से ही आन्तर संयोग की प्रगाढ़ रसात्मक अनुभूति होती है और भौतिक देह छूट जाने पर भक्त को भगवद्-धाम में भगवत्सेवा के लिए सोवोपयोगी नयी देह प्राप्त होती है। 'तत्वार्थ दीप निबंध' भी आपके प्रमुख ग्रंथों में एक है। अपना कार्य संपूर्ण होता देख आपश्री ने गोलोकधाम पधारने का विचार किया और ऐसी भगवत आज्ञा भी हुई थी, अतः आपने बावन वर्ष की अल्पायु में कुछ दिनों का संन्यास लेकर काशी में गंगा में प्रवेश कर लिया।

वल्लभाचार्यजी के कार्यों को बिट्ठलनाथजी ने बहुत फैलाया। गोपीनाथजी तो अल्पायु में ही भगवत-शरण हो गये थे। बिट्ठलनाथजी के अनेक शिष्य हुए जिनमें चतुर्भुजदासजी, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, नंददासजी कवि

प्रमुख हैं। इन्होंने श्रीनाथजी की सेवा का बहुत वैभव बढ़ाया। आपका प्रभाव जन साधारण के अतिरिक्त राजा-महाराजाओं पर भी था। यहां तक कि बादशाह (अकबर) के दरबार के राजा टोडरमल और राजा बीरबल भी उनमें थे। बादशाह की तरफ से आपको न्यायाधीश का सम्मान दिया गया था। शायद अकबर भी आपसे मिलने एक-दो दफे आया था। आपके प्रभाव से पुष्टिमार्गीय मंदिरों की सेवा के माध्यम से काव्य, साहित्य, संगीत, चित्रकला, पाक-कला आदि का बहुत विकास हुआ। इस रूप में सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में पुष्टिमार्ग का अवदान बहुत बड़ा है। इसको लेकर बहुत शोधकार्य हुआ और अभी भी हो रहा है।

बिट्ठलनाथजी गोकुल में रहते थे, अरैल छोड़कर आ गये थे। यहां पर नवनीत प्रियजी (बाल-कृष्ण) की सेवा किया करते थे और रोज श्रीनाथजी के दर्शनार्थ गोवर्धन भी जाया करते थे। बिट्ठलनाथजी की कथा भी बहुत लंबी है। इनके शिष्यों में तानसेन, बैजुबावरा, गोविंद स्वामी तो उच्चकोटि के कलाकर थे। रसखान और आलेखा पठान भी इनके शिष्य थे। श्रीनाथजी की सेवा में तुलसीदासजी, मीरां बाई आदि के पद भी गाये जाते थे। तानसेन ने भी बहुत से पदों की रचना की और बीच-बीच में अकबर की सेवा छोड़कर श्रीनाथजी के सामने कीर्त्तन किया करते थे।

वल्लभाचार्यजी का चैतन्य महाप्रभु से बहुत ही प्रेम भरा संबंध था। एक दिन आपको आभास हुआ कि वे आने वाले हैं तो आपने एक सेवक के साथ नाव नदी पार भेज दी। सायं हो चुकी थी और मंदिर के पट बंद हो चुके थे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि चैतन्य महाप्रभु आये हैं, उनके लिए भोजन हेतु सामग्री सिद्ध करो। उनकी पत्नी ने कहा कि मंदिर तो बंद हो गया है और भण्डार में तो केवल भगवान के भोग लगाने के लिए ही सामग्री है तो कैसे मैं उनके लिए प्रसाद बनाऊं। तो वल्लभाचार्यजी ने कहा कि ये साक्षात् भगवत रूप हैं इनके रोम-रोम में श्रीकृष्ण हैं इसलिए जो भगवान के भोग की सामग्री है वह इनके लिए भी है। तब उसी सामग्री से श्रीकृष्ण चैतन्य को भोग लगाया गया। रात्रि को दोनों एक दूसरे के हाथ पकड़े हुए चुपचाप बैठे रहे। सुबह पत्नी और सेवकों ने पूछा कि रातभर क्या बातें हुई हमलोगों ने तो आपको बात करते नहीं सुना, तब दोनों ने कहा कि हमारी बहुत बातें हुई। वस्तुतः दो भगवत विभूतियों के बीच में शब्दों की आवश्यकता नहीं हुई थी।

अब संक्षेप में श्रीकृष्ण-कथा के कुछ प्रसंगों के साथ आचार्यश्री के मत की चर्चा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण का जन्म कंस के कारागार में वसुदेवजी की पत्नी देवकी के गर्भ से हुआ। वसुदेवजी उसी समय भगवत प्रेरणा और अनुग्रह से सब बाधाओं को पार करते हुए उन्हें गोकुल में मां यशोदा के बगल में सुला आये और उनकी नवजात पुत्री को ले आये। बात अद्भुत यह रही कि यशोदा एवं नंदजी को पता ही नहीं चला। कंस आकाशवाणी के अनुसार आठवें गर्भ के इंतजार में था। उसने जैसे ही सुना कि कारागार में देवकीजी ने एक शिशु को जन्म दिया है तो तुरंत आया और उस नवजात कन्या को शिला पर पटककर मारने की चेष्टा की, परंतु वह उसके हाथ से छिटककर ऊपर उठ गई और उन्होंने कंस को बताया कि तुझे मारने वाला तो अन्य स्थान पर जन्म ले चुका है, यह कन्या भगवती योग माया थी। भगवत अवतार जब भी होता है तो योगमाया सदा अदृश्य रूप से प्रभु की सेवा में प्रस्तुत रहती है।

यमुना किनारे मां यशोदा के साथ प्रभु पधारे थे। यशोदाजी यमुनाजी में स्नान करने गई और शिशु को घाट पर बैठा दिया। अपनी लीला बताने के लिए और पृथ्वी देवी पर कृपा करने के लिए उन्होंने मृतिका का भक्षण किया, जैसे मक्खन खा रहे हैं। यशोदाजी जब बाहर निकली तो उन्होंने कान्हा को डांटते हुए मुख खोलने को कहा तो प्रभु ने मुंह खोला और उसमें सारा ब्राह्माण्ड का दर्शन कराया। यशोदाजी आश्चर्यपूर्ण जड़मत हो गई। उस समय उनको प्रभु की महिमा का ज्ञान हुआ पर भगवान ने बाल-लीला करने हेतु उनकी आंखों पर योगमाया

को आगे लेकर माया का परदा डाल दिया और वे सब घटना भूल गई। प्रभु की विभूतियों का चमत्कारिक दर्शन आज के जीवों को भी कभी-कभी उनकी कृपा से हो जाता है लेकिन वापिस इन्हीं मायादेवी के प्रभाव से वह ज्ञान विस्मृति में चला जाता है और ब्रह्मज्ञान छुपा का छुपा अंतर्मन की गहराई में रह जाता है। यह विश्व जिस प्रकार दिखता है या हम ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं वैसा नहीं होता है। जीवन में बहुत-सी बातों एवं घटनाओं का हमारे पास कोई भी तार्किक समाधान नहीं मिलता है, यह प्रभु की योगमाया ही तो है। यह माया हमारी आंखों पर परदा डाल देती है। हम जान ही नहीं पाते हैं कि क्या हुआ और वास्तविक स्वरूप क्या है, हम तो अलग अनुकरण करने लगते हैं। प्रभु की इस योगमाया का खेल अद्‌भुत है, तर्कातीत है, पर सत्य है।

आचार्य शंकर का मायावाद और श्रीमद् भागवत् की योगमाया एक ही है! आचार्य शंकर ने ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या कहा था। परंतु आचार्य वल्लभ ने इसे मिथ्याभास कहा अर्थात मिथ्या है नहीं केवल मिथ्या का आभास मात्र है। प्रभु की माया मिथ्या नहीं है, वह भी सत्य है पर उसका रूप और लक्षण अलग है। जब ब्रह्म सत्य है तो उसके द्वारा निर्मित माया असत्य कैसे हो सकती है। वह भ्रमित तो करती है, सत्य से भिन्न आभास भी करा देती है, लेकिन वह खुद असत्य नहीं है।

माया के इस खेल को बड़े-बड़े सिद्ध ऋषि, ज्ञानी भी नहीं समझ पाये यहां तक कि नारद जैसे महाज्ञानी भी धोखा खा गये, परंतु एकनिष्ठ भक्तों को यह माया प्रभावित नहीं कर पाती। उनके मन में तो प्रभु चरणों की सेवा और उनके दर्शन की लालसा के अलावा कुछ है ही नहीं, ज्ञान का अहंकार भी नहीं। वे एकनिष्ठ होकर अपने मन में केवल बालकृष्ण की छवि का दर्शन करते रहते हैं, उनकी सेवा करते रहते हैं और उनके साथ खेलते भी रहते हैं, उनको इस माया से कोई लेना देना नहीं है। उधर पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भक्त के इस प्रेम में बंधे रहते हैं। उनको माता यशोदा के द्वारा ऊखल से बांधा जाता है दूसरा भक्त उन्हें कुंज में देखता है जहाँ 'बैठी पलोटत ... राधि पायन', कोई कुब्जा से अंग राग लगवाते हुए भी देखता है। गिरिराज धारण करने के उपरांत भी ब्रजवासियों ने उनकी महत्ता का विचार मन में नहीं रखा, भूल गये और उन्हें केवल अपना सखा ही समझते रहे। यही बात कालीनाग दमन के बाद भी हुई। वस्तुतः अद्‌भुत है प्रभु लीला, और अद्‌भुत है भक्तों का प्रेम।

श्रीवल्लभ का यह मत ही दर्शन और धर्म के क्षेत्र में शुद्ध-अद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग कहा जाता है। आचार्य वल्लभ महाप्रभु ने ब्रह्म, माया और जगत को लेकर सत्यता तथा ब्रह्म और जीव के बीच भक्तिपरक संबंध को ही जीवन की उपलब्धि के रूप में प्रतिपादित किया और यह भक्ति भगवान के अनुग्रह स्वरूप पुष्टि या कृपा से प्राप्त हो सकती है। यह होने पर ही ब्रह्म और जीव के बीच माया नहीं रहती।

पुष्टिमार्ग के अनुसार पुष्टि चार प्रकार की होती है - (1) प्रवाह पुष्टि- इसमें सांसारिक कार्यों के साथ ही साधक भगवान की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है। (2) मर्यादा पुष्टि - इसमें साधक विषय-भोगों से संयम करके श्रवण कीर्तनादि में अग्रसर होता है। (3) पुष्टि-भक्ति - इसमें अनुग्रह प्राप्त साधक भक्ति के साथ ज्ञान की प्राप्ति में भी संलग्न रहता है। (4) शुद्ध-पुष्टि - इसमें साधक भगवान के प्रेम में निमग्न हो जाता है। श्री वल्लभ के अनुसार भक्ति की तीन भूमियां होती हैं - 1. प्रवृत्ति (प्रेम), 2. आसक्ति, 3. व्यसन। श्रीवल्लभ ने भक्ति पथ के तीन सोपान माने हैं- (क) गुरु सेवा, (ख) संत सेवा, (ग) प्रभु सेवा - इसमें नामस्मरण और स्वरूप सेवा दोनों की प्रधानता है। स्वरूप सेवा क्रियात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार की है। भावात्मक सेवा मननीय है तथा क्रियात्मक सेवा के दो विभाग हैं - तनुजा और वित्तजा। इस सेवा साधना का प्रभुख आधार है प्रेम, जो भगवान के अनुग्रह से ही उत्पन्न होता है। इसी कारण इसको प्रेम लक्षण साधना अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति कहते हैं। गुरु सेवा और संत सेवा का पर्यवसान भी प्रभु सेवा में ही है।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

संपादकीय

वैचारिकी के प्रस्तुत संयुक्तांक में सितम्बर से दिसम्बर तक की अवधि है जिसमें कई विशिष्ट दिवस एवं त्यौहार हैं, जिनके लिए हार्दिक शुभकामनाएं।

हिंदी दिवस 14 सितम्बर को। हिंदी दिवस सालों से मना रहे हैं, इस बार भी मनाना है, सरकारी बजट है। एक मेज के पीछे तीन कुर्सियां लगा दी गयी और सामने लगभग चालीस, यह जानते हुए भी कि इनमें से आधी खाली रहेंगी। मेज पर गुलदस्ता और तीन मालाएं, एक लेटर पैड और कलम (जिससे कुछ नहीं लिखा जायेगा), पेपर वेट और घंटी। दीवार पर, वर्षों पहले बनाया गया और स्टोर में पड़ा रहने वाला बैनर टांग दिया गया है जिस पर 'हिंदी दिवस समारोह' और नीचे विभाग का नाम लिखा हुआ है। इस तरह हिंदी दिवस समारोह की सारी तैयारी हो गई परंतु प्रोफेसर सिन्धु अभी तक नहीं आये थे, जो इस अवसर पर गत 15 वर्षों से भाषण देते आ रहे हैं। अंततः मालूम चला कि वे अस्वस्थ्य हैं। अब क्या हो? सब चिंतित की भाषण कौन देगा? कौन राष्ट्रभाषा हिंदी की सर्वव्यापकता, वैज्ञानिकता तथा उसमें भारतीय संस्कृति के अक्षुण्ण प्रवाह की महानता का शौर्यपूर्ण उद्घोष करेगा, हिंदी हमारे राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है और अब विश्वव्यापी होकर विश्व की भाषाओं में शीर्ष पर जाने को तैयार है और फिर भाषण के अंत में अब तक हजारों बार उद्धृत हो चुकी भारतेन्दुजी की ये पंक्तियां - 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल' (भारतेन्दुजी ने हिंदी को निज भाषा कहा परंतु हमारे देश में तो निजभाषाएं कई-कई हैं)। अंततः इस विकट स्थिति में विभाग के एक कर्मचारी ने स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कहा कि आपलोग अनुमति दें तो मैं प्रोफेसर सिन्धु के भाषण को हू-ब-हू बोल सकता हूं क्योंकि मैं पिछले 15 वर्षों से उनका भाषण सुन रहा हूं और जो कि मुझे अच्छी तरह रट गया है। इस तरह भाषण हुआ और तालियां बजी, लड्डू बँटे। यह सब यह जानते हुए भी हुआ और होता आ रहा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा (अर्थात पूरे राष्ट्र की भाषा) नहीं है केवल केंद्र सरकार की राजकाज की भाषा है और इसके साथ ही अंग्रेजी भी राजभाषा है जो कि व्यवहार में असली राजभाषा है।

संविधान के अनुच्छेद 343 (1) में संघ की राजभाषा हिंदी और उसकी लिपि देवनागरी को घोषित किया गया जिसके क्रियान्वयन का जबरदस्त विरोध हुआ तथा मद्रास, बंगाल आदि में उग्र आंदोलन हुये, आत्मदाह हुये। अतः 1963 ई. में राजभाषा अधिनियम संसद में

पारित हुआ, जिसमें प्रावधान किया गया कि राजभाषा हिंदी के साथ अंग्रजी भी राजकाज के लिए अधिकृत रहेगी और जब तक देश का एक भी राज्य विरोध करेगा (और ऐसा हमेशा होता रहेगा), हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित नहीं किया जायेगा। राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन होने जा रही हिंदी की ऐसी 'हिंदी हुई' कि उसके राष्ट्रभाषा होने पर सदा के लिए विराम लग गया। अधिनियम में असमिया, बंगला, उर्दू, मराठी, गुजराती, पंजाबी, संस्कृत, कश्मीरी, तेलुगु, सिंधी, तमिल, मलयालम, कन्नड़, उड़िया को 'राष्ट्रीय भाषाएं' कहा गया (पता नही 'राष्ट्रभाषा' एवं 'राष्ट्रीय भाषा' में क्या अंतर है?)। तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू द्वारा प्रस्तुत इस अधिनियम का सभी सांसदों ने समर्थन किया, एक सेठ गोविन्ददासजी को छोड़कर जिन्होंने आग बबूला होते हुए कहा कि भले ही मुझे कांग्रेस छोड़नी पड़े, आंखों देखते यह विषपान नहीं कर सकता। अधिनियम पारित हुआ और हिंदी से रोजगार प्राप्त अध्यापकों, हिंदी संस्थाओं के संचालकों, हिंदी लेखकों, राष्ट्रकवि इत्यादि सभी को अर्थात समस्त हिंदी भाषियों को सांप सूंघ गया। हिंदी के लिए आंदोलन का तो प्रश्न ही कहां, कौन करता, बंगला-तमिल आदि की तरह किसकी भाषा है हिंदी?

देश के सभी प्रांतों के नेताओं ने हिंदी को स्वतंत्रता आंदोलन की भाषा माना और उसके राष्ट्रभाषा होने का साग्रह समर्थन किया, परंतु स्वतंत्रता मिलते ही प्रांतीयताएं उठ खड़ी हुयी। यह वैसे ही था जैसे कि स्वतंत्रता प्राप्ति तक सब एक थे, परंतु स्वतंत्रता मिलने के आसार होते ही 'इस्लाम खतरे में पड़ गया'। यह हमारा हिन्दुस्तानी चरित्र है कि एक विदेशी भाषा चाहे राष्ट्रभाषा बन जाये, बस अपनी किसी भाषा को राष्ट्रभाषा नहीं होना चाहिए। प्रांतीय भाषाओं को तो छोड़िये, हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं के स्वार्थ भी प्रबल हो उठे और संविधान की आठवीं सूची में स्थान पाने के लिए मारा-मारी होने लगी। मजे की बात यह है कि इन सब की टारगेट है हिंदी, और सुरक्षित है अंग्रेजी। अंग्रेजों को निकाल दिया परंतु अंग्रेजी और अंग्रेजियत रह गयी। संविधान में हिंदी को संस्कृत शब्दों से समृद्ध करने की बात कही गयी है, जबकि इसे हिंदी क्षेत्र की विभिन्न भाषाओं, उप-भाषाओं तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के देशज शब्दों से समृद्ध किया जाना चाहिये था और यह प्रयास होना चाहिए। यह दुर्भाग्य ही है कि हिंदी भाषी अंग्रेजी शब्दों से हिंदी को समृद्ध करने में लगे हुए हैं। बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति भी अपनी बोलचाल में तीस-चालीस प्रतिशत अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार करता है। जो किसी तरह बड़े आदमी हैं और जो अपनी संस्कृति का बड़ा गुणगाान भी करते हैं वे भी लेटर पैड, विवाह आदि में निमंत्रण पत्र अंग्रेजी में छपवाना गौरवपूर्ण समझते हैं। हिंदी की पुस्तकें खूब छपती हैं, परंतु कोई खरीदने वाला नहीं है, अधिकांश-अधिकांश 'भेट' की जाती हैं। पुस्तक व्यवसायियों का एक मात्र आधार सरकारी खरीद है। हां, अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें खूब बिकती हैं और बेस्ट सेलर भी होती हैं। भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषायी विविधता इसकी प्रकृति में है। अतः ऐसी भाषा-नीति अपनाई जानी चाहिए कि हमारी विभिन्न भाषायें भी अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखकर उन्नत होती रहें और उनके सहयोग से हिंदी पूरे राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकृत हो, समृद्ध हो।

वैज्ञानिक तकनीकी शब्दों से हिंदी को समृद्ध करने की सभी कोशिशें, अंग्रेजी के तकनीकी शब्दों के संस्कृत में किये गये भयंकर अनुवादों के चलते, नाकाम हो चुकी हैं। विज्ञान एवं तकनीकी विषयों की तो छोड़िये, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, भूगोल इत्यादि जैसे विषयों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए हिंदी के पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। मजबूरी यहां तक हो गई है कि, हिंदी क्षेत्र के एक प्रांत राजस्थान से ख़बर है कि वहां तीसरी कक्षा से अंग्रेजी पढ़ाई जाने लगी है और राष्ट्रभाषा बनाने के बड़े पैरोकार महात्मा गांधी के नाम से अंग्रेजी माध्यम की स्कूलें खोली जा रही हैं। विदेशों में हिंदी प्रगति के पथ पर है, परंतु अफ़सोस की स्वयं अपने देश में नैराश्य ही है। हो सकता है कि जब-तब यह राष्ट्रभाषा बन जाये, हां देश के विभिन्न प्रांतों के बीच संपर्क भाषा के रूप में तो

जरूर जगह बना रही है, परंतु विशेष रूप से हिंदी भाषियों का यह परम कर्तव्य है कि वे हिंदी को इस दृष्टि से और अधिक समृद्ध करें। बहुत बार हिंदी को 'हमारी मातृभाषा है' ऐसा कह दिया जाता है जबकि विभिन्न प्रांतों की ही नहीं अपितु हरेक प्रांत में भी बहुत-सी मातृभाषाएं हैं। हिंदी हमारी राजभाषा है और हम इसे राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते हैं। अंत में इस आवश्यकता का उल्लेख करना जरूरी लग रहा है कि तकनीकी वैज्ञानिक शब्दावली आयोग, हिंदी निदेशालय, राजभाषा विभाग, सरकार से अनुदान प्राप्त हिंदी संस्थाओं एवं स्कूलों-कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के कार्य और हिंदी-शिक्षण की गहन समीक्षा आवश्यक है।

विश्वकर्मा पूजा अथवा जयंती कर्णाटक, असम, पश्चिम बंगाल, बिहार, झाड़खण्ड, उड़ीसा और त्रिपुरा में शिल्पियों तथा कारखानों एवं औद्योगिक क्षेत्रों में मनाई जाती है। पता नहीं किस आधार पर विश्वकर्मा जयंती का दिन हिन्दू पंचांगों में आश्विन कृष्ण पक्ष की सप्तमी को निश्चित किया गया है जो कि ई. सन् में प्रायः 17 सितम्बर की तारीख होती है, जैसे पौष शुक्ल पक्ष में मकर संक्रांति की ई. सन् में प्रायः 14 जनवरी होती है। 'विश्वकर्मा' वेद का शब्द है और यह गुणवाचक है व्यक्तिवाचक नहीं। महर्षि यास्क ने 'विश्वानि कर्माणि येन यस्य वा स विश्वकर्मा, विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता' अर्थात् संसार के सभी कर्म जिसके द्वारा होते हैं अथवा संसार में जिसके द्वारा किए गए कर्म हैं वह सृष्टिकर्त्ता विश्वकर्मा है, इस प्रकार परमेश्वर ही विश्वकर्मा है। फिर ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ में प्रजापति नामक देवता द्वारा प्रजा को उत्पन्न करने का कर्म करने से उसे विश्वकर्मा कहा गया। पुराणों की रचना होते-होते परमेश्वर, प्रजापति, दिव्य पदार्थों, घटनाओं और उनके विशेषणों का व्यक्तिकरण होकर असंख्य देवताओं का निर्माण कर लिया गया। देवताओं की इस भीड़ में सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के गुण अथवा विशेषण को भी एक देवता बना दिया गया जो देवराज इन्द्र या विष्णु के आदेश पर भवनों, नगरों एवं उनमें सुख-सुविधाओं का निर्माण करता है। अंततः इसकी भी मूर्ति बना ली गई और विश्व-रचना का महान कर्म करने वाले परमेश्वर के हाथों में औजार थमाकर उसे मिस्त्री अथवा अभियंता बनाकर विश्वकर्मा नाम से उसकी पूजा की जाने लगी।

दो अक्टूबर को **गांधी-शास्त्री जयंती**, दोनों को शत-शत नमन। महात्मा गांधी अपनी पूरी निष्ठा, लगन से आजीवन पूरे देश को एक राष्ट्र बनाने के प्रयत्न में लगे रहे परंतु उन्हें हर समय दुविधाओं का सामना करना पड़ा और ये दुविधायें अभी भी हमारे देश में विद्यमान हैं। पं. नेहरू के समय 1962 में चीन के आक्रमण और उससे युद्ध में लज्जाजनक हार के पश्चात प्रधानमंत्री बने लालबहादुर शास्त्रीजी ने 1965 में पाकिस्तान को परास्त कर लज्जास्पद स्थिति से देश को उबारा। लघु व्यक्तित्व के धनी शास्त्रीजी ने अपनी दृढ़ता, निर्भीक नीति एवं शौर्य के द्वारा मात्र 18 माह के अपने शासन काल को यादगार बना दिया। दुर्भाग्य कि निहित स्वार्थों की दुरभिसंधी देश के इस सपूत को लील गयी।

दीपावली (कार्तिक अमावस्या विक्रम संवत 2079 तद्नुसार 24 अक्टूबर 2022) की हार्दिक शुभकामनाएं। मनुष्य की आखेट-अवस्था में बारहसिंगा, हिरण, व्हेल मछली जैसे बड़े शिकार जिस दिन होते उस दिन उत्सव होता था जो कि अभी भी आखेटजीवी लोगों में देखा जा सकता है। इसके पश्चात् मनुष्य कृषि कर्म करने लगा और उसके कारण एक स्थान पर रहने लगा तो निश्चित दिन उत्सव अथवा त्यौहारों का प्रचलन होने लगा। भारत में प्रचलित प्राचीन त्यौहार मूलतः कृषि से संबंधित हैं। जैसे *दीपावली और होली, दोनों बड़े त्यौहार क्रमशः कार्तिक एवं फाल्गुन मास में नई फसल आने से संबंधित हैं।* होली के त्यौहार का आयोजन सामूहिक है जबकि दीपावली के त्यौहार का आयोजन वैयक्तिक होकर सामूहिक है। वैदिककाल में कार्तिक अमावस्या एवं फाल्गुन पूर्णिमा को नवशस्येष्टि यज्ञ-हवन कर देवताओं-पितरों को नवान्न अर्पित किया जाता था। कार्तिक अमावस्या को होने वाले नवशस्येष्टि यज्ञ के समय हर्षोल्लास से उत्सव मनाने के लिए रात्रि में घी के और फिर तेल का आविष्कार होने पर उसके दीपक जलाये जाते थे जिससे इस उत्सव का नाम ही दीपावली

(दीपअवली अर्थात दीपों की पंक्तियां) हो गया। यह एक तरह से नव वर्ष का भी स्वागत था क्योंकि प्राचीन काल में कार्तिक अमावस्या के दूसरे दिन से वर्ष प्रारंभ होता था। कालांतर में यज्ञों.का स्थान पूजा ने ले लिया तो इस अवसर पर कृषि का आधार और अन्य वसुओं (धनों) को देने वाली भू-देवी की पूजा प्रचलित हुई। भूमि अथवा भू-देवी का ही एक नाम लक्ष्मी है। फिर इससे कई पौराणिक-लौकिक आस्थाएं जुड़कर यह त्यौहार सामान्यतः पांच दिवस-व्यापी हो गया जो कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी से प्रारंभ होकर कार्तिक शुक्ल द्वितीया तक रहता है। हालांकि कुछ प्रांतों में दो-तीन दिनों का भी होता है।

दीपावली का त्यौहार एवं उल्लास लगभग पूरे भारत में अपने आप में विशिष्ट है जिस पर लोग अपने-अपने घरों की सफाई-पुताई करते हैं, नये वस्त्र पहनते हैं, बर्तनों आदि की खरीद करते हैं, घर के आंगन में रंगोली बनाते हैं अथवा मांडने मांडते हैं और घरों को दीप-पंक्तियों से सजाकर उत्सव मनाते हैं। **पश्चिम बंगाल** में दीपावली के अवसर पर घरों के बाहर रंगोली बनाई जाती है और अमावस्या की मध्यरात्रि में महाकाली की पूजा-अर्चना होती है। **उड़ीसा** में कार्तिक द्वादशी को धनतेरस होती है, दूसरे दिन महानिशा में पितरों और आद्यकाली की पूजा होती है, अगले दिन लक्ष्मी पूजा, चौथे दिन गोवर्धन और अन्नकूट पूजा और पांचवें दिन भाईदूज मनाई जाती है। **बिहार और झाड़खंड** में दीपावली के असवर पर होली जैसी धूम-धाम हो जाती है तथा लक्ष्मी पूजन होता है। **पूर्वोत्तर** में असम, मणिपुर, नागालैंड, मेघालय, त्रिपुरा, अरुणाचल, सिक्किम, मिजोरम में काली पूजा का महत्व है तथा दीपावली की मध्यरात्रि को तंत्र साधना के लिए विशेष उपयुक्त समझा जाता है। **गुजरात** में लोग घरों में रंगोली बनाते हैं और लक्ष्मी के चरण बनाये जाते हैं। दीपावली की रात को महालक्ष्मी का पूजन होता है। घरों में लक्ष्मीजी के सामने देशी घी का दीपक रातभर जलाये रखा जाता है और सुबह उसकी लौ की धुआं एकत्र करके काजल बनाकर महिलायें अपनी आखों में लगाती हैं। दीपावली के दिन नया उद्योग, सम्पत्ति की खरीद, कार्यालय-दूकान खोलना अत्यंत लाभकर माना जाता है तथा इस दिन विवाह करना भी शुभ माना जाता है। **महाराष्ट्र** में दीपावली का त्यौहार चार दिनों तक चलता है। पहले दिन वसुर बरस मनाया जाता है जिसमें आरती गाते हुए गाय-बछड़े का पूजन होता है। दूसरे दिन धनतेरस को व्यापारी लोग बही-खाते का पूजन करते हैं। चतुर्दशी को नरक-चतुर्दशी के रूप में मनाते हैं जिसमें लोग सूर्योदय से पहले उबटन लगाकर स्नान करते हैं और सपरिवार मंदिर जाते हैं। अमावस्या को दीपावली मनाई जाती है जिसमें लक्ष्मी का पूजन होता है। **गोवा** में भी दीपावली का त्यौहार पांच दिन तक चलता है। यहां रंगोली बनाने का विशेष महत्व है तथा पारंपरिक नृत्य और गायन के आयोजन होते हैं। दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा की जाती है। उत्तर भारत के अंतर्गत **जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश** में दीपावली पांच दिवसीय त्यौहार होता है। धनतेरस को कुबेर और भगवान धनवंतरी से संबंधित माना जाता है और लोग बर्तन इत्यादि खरीदते हैं। दूसरा दिन श्रीकृष्ण द्वारा नरकासुर के वध से संबंधित मानकर नरक-चतुर्दशी मनाई जाती है, तीसरे दिन अमावस्या को लक्ष्मी पूजन होती है, चौथे दिन श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा प्रवर्तित करने के उपलक्ष्य में गोवर्धन पूजा होती है। पांचवें दिन यम द्वितीया को भाईदूज के रूप में मनाया जाता है। कई स्थानों पर दीपावली के दिन जूआ खेलना शुभ माना जाता है। कुछ घरों में दूध में चांदी का सिक्का डालकर पूजा के बाद उसे पूरे घर में छिड़का जाता है तथा अस्त्र-शस्त्रों की पूजा भी होती है। **हरियाणा** में दीपावली के दिन लोग अपने-अपने घरों पर अहोई माता का चित्र बनाकर उसके साथ घर के सभी सदस्यों के नाम भी लिखते हैं और घर के आंगन में दीपक जलाकर पूजा करते हैं। हर घर से चार दीपक चौराहे पर रखे जाते हैं जिसे टोना कहा जाता है। **दक्षिण भारत** में दीपावली से जुड़ी एक अनोखी परंपरा है जिसे थलाई दीवाली कहते हैं। इसके अनुसार नवविवाहित जोड़े को दीवाली मनाने के लिए लड़की के घर जाना होता है जहां उनका स्वागत

होता है, उपहारों का आदान-प्रदान होता है, शकुन के रूप में एक पटाखा चलाया जाता है और सब लोग मंदिर जाते हैं। **तमिलनाडु** में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी अर्थात नरकचतुर्दशी का विशेष महत्व है। इस दिन पारंपरिक स्नान किया जाता है और फिर रंगोली बनाकर दीपक जलाये जाते हैं। यहां दीपावली का त्यौहार दो दिनों का होता है। **आंध्रप्रदेश** में दीपावली में हरिकथा का संगीतमय आयोजन होता है, ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा ने नरकासुर का वध किया था। अतः एक विशेष मिट्टी से सत्यभामा की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की जाती है। **कर्णाटक** में दीपावली का दो दिवसीय उत्सव होता है। पहले दिन को अश्विजा-कृष्ण अथवा नरकचतुर्दशी कहा जाता है। इस अवसर पर लोग तेल से स्नान करते हैं। माना जाता है कि नरकासुर का वध करने से श्रीकृष्ण के शरीर पर रक्त के धब्बे लग गये थे जिन्हें मिटाने के लिए उन्होंने तेल से स्नान किया था। दूसरे दिन बलि-पद्यमी को महिलायें घरों को गाय के गोबर से लीपती हैं और रंगोली बनाती हैं तथा राजाबलि से संबंधित कहानियां कहती सुनती हैं। **मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़** में भी दीपावली का त्यौहार पांच दिवसीय होता है जिसमें पहला दिन कुबेर और धनवंतरी से जुड़ा है, दूसरे दिन नरकचतुर्दशी होती है, तीसरे दिन लक्ष्मी पूजन होता है, चौथे दिन गोवर्धन पूजा होती है और पांचवें दिन भाईदूज होती है।

दीपावली का त्यौहार लगभग पूरे भारत में मनाया जाता है जिसमें मुख्य रूप से लक्ष्मी का पूजन होता है और कहीं-कहीं काली का पूजन होता है तथा प्रांतों की स्थानीय परंपराओं को लेकर भिन्नता भी है। जैसाकि पूर्व में लिखा गया है कि *प्राचीन काल में यह कृषि से संबंधित एक त्यौहार के रूप में मनाया जाता था जिसमें नवान्न-यज्ञ होता था, बाद में यज्ञ की जगह पृथ्वी अथवा लक्ष्मी का पूजन होने लगा। कालांतर में इससे कई पौराणिक प्रसंग भी जोड़ दिये गये।* रामभक्तों ने दीपावली को श्रीराम से जोड़ते हुए प्रचारित किया कि रावण वध के पश्चात् श्रीराम के वनवास से लौटने पर अयोध्या की प्रजा ने अपने-अपने घरों पर दीपक जलाकर श्रीराम का स्वागत किया और उत्सव मनाया, तभी से दीपावली का त्यौहार मनाया जाता है। श्रीकृष्ण भक्तों का कहना है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को नरकासुर का वध कर श्रीकृष्ण द्वारका लौटे तो लोगों ने अपने-अपने घरों पर दीपक जलाकर उनका स्वागत किया और तभी से दीपावली का त्यौहार मनाया जाने लगा। *उल्लेखनीय है कि दीपावली पर लक्ष्मी, काली, पितरों आदि की पूजा तो होती है लेकिन कहीं भी राम अथवा कृष्ण की पूजा नहीं होती।* इधर वाराणसी में एक नई दीपावली का आविष्कार हुआ जिसे **देव-दीपावली** कहा जाता है और यह दीपावली के बाद कार्तिक पूर्णिमा को होती है। इसकी शुरुआत 1915 ई. में गंगा नदी के पंचगंगा घाट पर की गई थी और इसे देवताओं का उत्सव कहा गया। कहा जाता है कि काशी के राजा दिवोदास ने अपने राज्य में देवताओं के प्रवेश को प्रतिबंधित कर दिया था तब रूप बदलकर भगवान शिव ने पंचगंगा घाट पर आकर स्नान ध्यान किया। जब राजा दिवोदास को इसका पता चला तो उसने देवताओं के काशी प्रवेश पर से प्रतिबंध को समाप्त कर दिया और इस दिन काशी में देवताओं ने प्रवेश किया था। अब तो गंगा के किनारे रविदास घाट से लेकर आदि केशव घाट एवं नदी के तट एवं अन्य घाटों पर स्थित देवालयों, मठों-आश्रमों व भवनों पर असंख्य दीपक जलाकर इसे मनाया जाता है। इस संबंध में एक कथा यह भी कही जाती है कि भगवान शिव ने तारक और विद्युन्माली द्वारा निर्मित सोने, चांदी और लोहे से निर्मित तीन पुरों को नष्ट कर असुरों का वध किया था। अतः त्रिपुरारि शिव की इस विजय की उपलक्ष्य में यह देव दीपावली मनाई जाती है। 21 ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रोच्चारण एवं 41 कन्याओं के पूजन के साथ इसका प्रारंभ होता है। नदी में हजारों लोग स्नान कर दीप-दान करते हैं और फिर दशाश्वमेध घाट पर गंगा की महाआरती का आयोजन होता है। इस अवसर पर देवी गंगा की एक 12 फुट की प्रतिमा भी बनाई जाती है। घरों में अखण्ड रामायण के आयोजन होते हैं।

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

डॉ. राम गोपाल शर्मा दिनेश की साहित्य-साधना

डॉ. मुरलीधर पण्ड्या

मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय (उदयपुर-राजस्थान) में 1964 से 1989 तक हिन्दी विभागध्यक्ष एवं संकाय अधिष्ठाता रहे और अनेक-अनेक राज्य व राष्ट्र स्तरीय पुरस्कारों-सम्मानों से सम्मानित डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' की साहित्य-साधना का फलक व्यापक एवं बहु विधात्मक है।

काव्य - डॉ. दिनेश की साहित्य-साधना का शुभारम्भ 1943 ई. में कविता से हुआ। इस समय वे 14 वर्ष के थे। वीर-रसात्मक अनुभूतियों से ओत-प्रोत उनका हृदय भारतीय स्वाधीनता-संग्राम और द्वितीय विश्व युद्ध की विषम परिस्थतियों से काव्य-सर्जना की प्रेरणा पा रहा था। इसी बीच पन्द्रह अगस्त, 1947 का वह बहुप्रतीक्षित शुभ दिन आया जब भारत अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हुआ। डॉ. दिनेश अब तक **'दुर्वासा'** नामक एक लघु खण्डकाव्य (1944 ई. में) तथा वीर रस के लगभग 100 गीत लिख चुके थे, जिनमें भारत के अतीत गौरव, विश्व-मानवता, स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने वाले वीरों की यश-गाथाएँ आदि का चित्रण था। इनमें से चुने हुए गीतों का एक संग्रह **'वीरांगना'** नाम से 1948 में प्रकाशित हुआ। ये सभी गीत तत्कालीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे थे तथा कवि-सम्मेलनों में भी सराहे गये थे। 1943 से 1948 के बीच डॉ. दिनेश की एक अन्य लघु पुस्तक **'कविशाला'** प्रकाशित हो चुकी थी, जो हरिवंशराय 'बच्चन' की मधुशाला के अनुकरण पर कवि सम्मेलनों के लिए लिखी गई थी, किन्तु उसका विषय अधिकांशतः राष्ट्रीय गुणगान से सम्बन्धित था। इस काव्य की डॉ. दिनेश के कथनानुसार पाँच हजार प्रतियाँ छपी थीं और हाथों-हाथ बिक गई थीं। उन्होंने जो 8-10 प्रतियाँ सम्हाल कर रखी थीं, वे बाद में 1957 में बनाये गये मकान में अन्य पठनीय पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के साथ दीमक की शिकार हो गईं। अब इस काव्य के कुछ छन्द ही कवि की स्मरण-शक्ति में अवशेष हैं। एक छन्द इस प्रकार है-- *कंचन की कमनीय कल्पना / दिवा-रात्रि जो करते हैं। /अंग्रेजों की सेवा में वे, / सब कुछ करते-मरते हैं। / भेड़-श्वान वे, उन्हें मुक्ति का / मार्ग दिखाती कविशाला ।*

'वीरांगना' के गीतों में जो राष्ट्रीय स्वर था, उससे प्रभावित होकर पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने दैनिक 'सैनिक' में तीन अंकों में सम्पादकीय लिखे थे और कहा था कि "अगर अतिशयोक्ति न मानी जाए तो मैं 'वीरांगना' को इस आधी सदी की सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय

काव्य-कृतियों में से एक कहूँगा। युवा होते हुए भी वे जितना श्रेष्ठ काव्य-सृजन कर रहे हैं और राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं, उसे देखते हुए वे अखिल भारतीय स्तर के कवि माने जा सकते हैं।"

डॉ. दिनेश की आरम्भिक वीर रस पूर्ण कविताओं के जो उदाहरण 1943 ई. में ही पाठकों एवं श्रोताओं के सामने आ चुके थे, उसका एक उदाहरण देखिए- *आज़ादी के महा समर की / बजती है रणभेरी।/ बन्धन किसको आज अप्रिय हैं / देखें बेड़ी बोझ किसे है? / किसको मातृ-भूमि की चिन्ता / आज़ादी से प्रेम किसे है?* आज़ादी का आगमन युवा कवि को कितना उल्लसित कर रहा था, इसका अनुमान इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है- *आज एशिया के अम्बर में/आज़ादी का सूरज निकला/ सूरज निकला /सूरज निकला!*

स्वाधीनता के लिए जो समुद्र-मन्थन हुआ था, उससे अमृत के साथ विष भी निकला था, 30 जनवरी को सन् 1948 में महात्मा गाँधी जिसका शिकार हो गये। डॉ. दिनेश पर गाँधीजी का बहुत प्रभाव पड़ चुका था, अतः वे इस वज्रपात से अत्यधिक आहत हुए और 'विश्वज्योति बापू' खण्डकाव्य लिखकर गाँधीजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। यह काव्य 1950 में लोक सेवा प्रकाशन, मण्डल बाह (आगरा) से प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसका सातवाँ संस्करण वाणी प्रकाशन दिल्ली से 2000 ई. में प्रकाशित हुआ है, जिससे इसकी लोकप्रियता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने इस काव्य को पढ़कर दिनेशजी को अपने पत्र में लिखा था-- "विश्वज्योति बापू जन-कल्याणकारी काव्य है, इसमें सन्देह नहीं। आप इसमें कृतकार्य हुए हैं। बापू के जीवन की विराटता को भाव और भाषा का जो प्रौढ़ आधार आपने प्रदान किया है, वह प्राशंसनीय है। निश्चय ही यह कृति समस्त विश्व को मानवता का रचनात्मक सन्देश देती हुई कालजयी सिद्ध होगी।" हिन्दी के मूर्धन्य समालोचक बाबू गुलाबराय एम. ए. ने लिखा था-- 'विश्वज्योति बापू' के वर्णनों में पर्याप्त रोचकता है। दीन-दुखियों के प्रति कवि के हृदय में करुणा है, जिससे वर्णन हृदय-स्पर्शी हो गये हैं। भाषा प्रांजल और प्रवाह-मय है।"

पत्र-पत्रिकाओं में इस कृति की जो समीक्षाएँ प्रकाशित हुई, उनसे उसकी श्रेष्ठता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। यथा-- "विश्व-वंद्य महात्मा गाँधी पर यह प्रबन्ध काव्य विश्वज्योति बापू प्रसाद गुण से परिपूर्ण एवं हृदय-स्पर्शी है। कविता में प्रवाह और चित्रण में रोचकता है। शब्द-चयन भी सुन्दर है। कवि की कल्पना गाँधीजी के सत्य से मिलकर पाठक को प्रभावित करने में पूर्ण समर्थ बन गई है। ऐसी सुन्दर प्रबन्ध कृति का हिन्दी-जगत् में समादर होना चाहिए।" 'नई धारा' मासिक (पटना) में छपी समीक्षा का एक अंश इस प्रकार है-- "विश्वज्योति बापू' में बापू के जीवन की घटनाओं और उनके महान कार्यों का कवित्वपूर्ण वर्णन है। बड़ी ही सरल भाषा में प्रबन्ध-काव्य का निर्वाह किया गया है, इसलिए भाव सहज ही हृदयंगम हो जाते हैं। उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध बापू के संघर्ष का वर्णन बड़ा ही हृदय-स्पर्शी है। दिनेशजी ने जिस सूझबूझ और कवि-जनोचित गुणों का परिचय दिया है, वह सहज ही पुस्तक को सराहनीय बना देता है। यों तो जाने कितनो चीजें लिखी गई और लिखी जाएँगी, पर दिनेशजी का यह प्रयास अपनी मौलिकता के कारण अपना विशेष स्थान बनाये रखेगा, ऐसी आशा है।" दैनिक 'नवभारत टाइम्स' दिल्ली के एक अंक में छपी समीक्षा का यह अंश भी इसी सन्दर्भ में पठनीय है-- "कवि ने बापू के जीवन को समझने में मौलिक दृष्टिकोण से काम लिया है। इस काव्य से कवि की कुशल प्रतिभा, कल्पना और अध्ययन का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। कवि को इस काव्य में आशातीत सफलता मिली है। निःसन्देह 'विश्वज्योति बापू' हिन्दी साहित्य की एक सफल और मौलिक

काव्य-कृति है। भाषा, भाव और शैली आदि सभी दृष्टियों से इसमें कवि-प्रतिभा का प्राज्वल्य प्रकाश दिखाई देता है।"

निरन्तर साधनारत डॉ. दिनेश की चतुर्थ काव्य-कृति **'संघर्षो के राही'** 1951 ई. में प्रकाशित हुई। यह एक गीत-संग्रह है, जिसमें जीवन-संघर्ष की अनेक सीढ़ियाँ चढ़ते हुए डॉ. दिनेश समाज की विद्रूपताओं के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजाते हैं। हरिवंशराय बच्चन से उनके घर, 'विशाल भारत' के यशस्वी सम्पादक पं. श्रीराम शर्मा की ओर से मिलने गये कवि दिनेश को बच्चनजी ने 'कविशाला का कवि' कहा, तो दिनेशजी ने अपनी सद्य प्रकाशित कृति 'संघर्षो के राही' की वह प्रति भेंट कर दी जिसमें बच्चनजी द्वारा कुछ समय पूर्व लिखी भूमिका छपी थी। एक अंश यहाँ उद्धृत है-- "वर्तमान से जो असन्तोष, भविष्य की जो कल्पना आज हमारे स्वस्थ युवकों के हृदय में जाग्रत है, उसका एक सजग प्रतिबिम्ब मुझे 'संघर्षो के राही' की रचनाओं में मिला। इसके रचयिता दिनेशजी स्वयं संघर्षो में पले और बड़े हुए हैं। वे अपने प्राणों का साहस और बल, देश व समाज को देकर उसे एक नई दिशा की ओर ले जाना चाहते हैं।" इस कृति के विषय में प्रसिद्ध साहित्यकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने लिखा था कि "श्री दिनेशजी के गीतों में कुछ ऐसी सरलता और गेयता है, जो हृदय को अनायास अपनी ओर खींचती है। हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों के गीत भी गाये नहीं जा सकते या यों कहिये कि अनायास नहीं गाये जा सकते। दिनेशजी के गीतों में ऐसी बात नहीं। वे सरल और बोधगम्य हैं और मन अनायास उन्हें गुनगुना उठता है।" डॉ. जीवन प्रकाश जोशी ने अपने विस्तृत लेख में लिखा है कि "यह 1950-51 का समय था और डॉ. दिनेश हिन्दी के आकाश में चमकते नक्षत्र की तरह निरन्तर हिन्दी विद्वानों को अपनी प्रतिभा के प्रकाश से चमत्कृत करते जा रहे थे।"

'संघर्षों के राही' की भूमिका में हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित एवं अनेक भाषा-साहित्यों के मर्मज्ञ मनीषी पं. सीताराम चतुर्वेदी ने जून, 1951 में लिखा था, "श्री रामगोपाल शर्मा दिनेश जो कविताएँ संघर्षों के राही संकलन में लेकर उपस्थित हुए हैं, उनका स्वागत और अभिनन्दन करते हुए मुझे सात्विक हर्ष हो रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुकने पर भी हमारा देश, समाज और साधारण व्यक्ति जिस व्यवस्था, आर्ति, पीड़ा, मानसिक अशान्ति और द्वन्द्व का अनुभव करता जा रहा है, वह किसी भी शक्ति का आमूल उच्छेदन करने की अत्यन्त पर्याप्त भूमिका है। ऐसी मानसिक परिस्थिति का शुद्ध और निश्छल चित्रण करके आत्म-प्रबुद्धता को प्रेरित करने वाली जिस संजीवनी शक्ति का परिचय श्री दिनेशजी ने अपनी इन कविताओं में दिया है, वह मानवता को किसी भी युग में प्रबुद्ध, जागरूक और चेतन करने की पूर्ण क्षमता रखती है। इस निराश-भयभीत जगत् के जिन मानवीय उपकरणों ने मानवीय उदात्त वृत्तियों को जर्जर बना दिया है, उन्हें फिर से शुद्ध और उद्‌बुद्ध करके विनाशकारी तत्त्वों का विनाश करके लोक मंगलकारी तत्त्वों की सृष्टि करने और अपनी शक्ति को पहचान कर अपनी समृद्धि करने की प्रेरणा भी दिनेशजी की इन रचनाओं में पूर्ण रूप से व्याप्त है। ओज गुण के साथ उपयुक्त छन्दों में नवीन युग की नवीन भावनाओं को सशक्त शब्दों में व्यक्त करने वाली रचनाएँ इस टक्कर की बहुत कम मिलती हैं।"

सन् 1952 से 1959 तक का समय डॉ. दिनेश की साहित्य-साधना के बहुमुखी होने का समय है। इस अवधि में उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में रचनाएँ की, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने **'दुर्वासा'** एवं **'उत्सर्ग'** खण्डकाव्य लिखे तथा अनेक गीत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये, जिनका आगे चलकर **जयघोष, जलती रहे मशाल, गौरवगान, मधुरजनी** एवं **जले शौर्य का दीप** नामक गीत-संग्रहों के रूप में प्रकाशन हुआ। इन संग्रहों में से 'मधुरजनी' के गीत 1948 से

1950 की अवधि में लिखे गये थे और राजस्थान साहित्य अकादमी से 1966 ई. में प्रथम बार प्रकाशित हुए। 'दुर्वासा' में दुर्वासा ऋषि के क्रोध की व्यंजना राष्ट्रीय ओज के रूप में की गई है। 'उत्सर्ग' में मेवाड़ी वीरों के त्याग और बलिदान की कथा प्रस्तुत हुई है। शेष गीत-संग्रहों में डॉ. दिनेश की राष्ट्रीय शौर्य, देश-प्रेम, सांस्कृतिक गौरव एवं मानव-प्रेम की भावनाएँ चित्रित हुई हैं।

प्रथम बार दस्यु-समर्पण कराने के लिए आचार्य विनोबा भावे ने अपना अभियान आगरा जिला की बाह तहसील से आरम्भ किया था। डॉ. दिनेश इस अभियान में चम्बल नदी के उत्तरी किनारे तक विनोबाजी के साथ रहे और गीत-रचना करके अपना भावनात्मक योग दिया। इस अवसर पर उन्होंने जो गीत लिखे और जो सार्वजनिक रूप से गाये गये, उनका आगरा के 'साहित्यरत्न भण्डार' ने **'सर्वोदय के गीत'** नाम से सन् 1950 में प्रकाशन किया। सर्वोदयी विचारधारा की अत्यन्त मार्मिक भावाभिव्यक्ति इस कृति में मिलती है। एक उद्धरण प्रस्तुत है-- *अंहिसक नई क्रान्ति भूदान-मूलक / विनोबा तुम्हारे लिए ला रहा है। / उठो ओ किसानो! तुम्हारे घरों में/ नई रोशनी की किरण घूमती है। / करो आत्म-शोधन मिलाकर हृदय सब / मनुज को मनुजता पुनः चूमती है। / मिटा द्वेष-ईर्ष्या अमर स्नेह-सरिता / विनोबा बहाता चला आ रहा है।*

डॉ. दिनेश का तीसरा खण्डकाव्य **'उत्सर्ग'** प्रथम बार सन् 1959 में प्रकाशित हुआ, जिसके अब तक आठ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। **'जयघोष'** एवं **'गौरव-गान'**, 1943 से 1953 ई. तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित डॉ. दिनेश के राष्ट्रीय गीतों के संग्रह हैं, जिनका प्रकाशन 1961 में हुआ। इन संग्रहों के गीतों में भारतीय मानस के ओजपूर्ण भावों की विशद अभिव्यक्ति मिलती है। राष्ट्र के विभाजन की दर्द-भरी घटनाओं के हृदय हिला देने वाले चित्र इन संग्रहों की कविताओं में तत्कालीन इतिहास को बाँधते हैं।

डॉ. दिनेश की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति **'सारथी'** (महाकाव्य) सन् 1961 में प्रकाशित हुई। इस काव्य में मानव सभ्यता पर घिरते विनाशकारी संकटों का विस्तार से चित्रण किया गया है। यों तो इस काव्य से पूर्व प्रकाशित उनकी सभी कृतियों की विद्वानों और पाठकों में सराहना होती रही, किन्तु इस रचना ने हिन्दी जगत् का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी इस महाकाव्य की मुक्त हृदय से प्रशंसा की। काव्य विधा के शीर्षस्थ मर्मज्ञ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा-- "मेरी दृष्टि में 'सारथी' की रचना साम्प्रतिक हिन्दी काव्य-धारा की उच्च स्तर की रचनाओं में से है। छन्दों की विविध प्रकार की शैली और भाषा की सर्वग्राह्यता एवं प्रवाह विशेष आकर्षक है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस रचना में अन्तर्वेग सहज और प्रभविष्णु रूप में अभिव्यक्त हुआ है।" डॉ. नगेन्द्र, रामधारी सिंह दिनकर, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. देवराज उपाध्याय आदि साहित्यकारों ने भी अपनी समीक्षाओं में इस महाकाव्य को हिन्दी काव्य जगत् की एक श्रेष्ठ एवं महान् उपलब्धि बताया। इस ग्रन्थ को भी राजस्थान साहित्य अकादमी ने काव्य-पुरस्कार से सम्मानित किया था।

सन् 1962 में डॉ. दिनेश की तीन काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हुईं- **हिमप्रिया, जलती रहे मशाल** और **आयाम**। इन तीनों में उनकी प्रतिभा के विकास के तीन रूपों व तीन प्रवृत्तियों का स्पष्ट दर्शन होता है। **हिमप्रिया** एक खण्डकाव्य है, जो भारत पर चीन के आक्रमण की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। कवि ने इस में कालिदास-कृत 'मेघदूत' की शैली अपनाई है। 'हिमप्रिया' में भारत का समस्त उत्तरी हिमानी वैभव है, जिसे युद्ध के संकट से उबारने के लिए समस्त भारत का पराक्रम उठ खड़ा होता है। इस प्रकार यह प्रतीकात्मक खण्डकाव्य है और वीर रस-पूर्ण राष्ट्रीय

शौर्य की भावनाओं का विस्तार करता है। **'जलती रहे मशाल'** कवि के 1955 ई. से 1961 ई. तक रचित उन गीतों का संग्रह है, जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे थे या आकाशवाणी जयपुर अजमेर से प्रसारित हुए थे, किन्तु तब तक किसी पुस्तक में संग्रहीत नहीं हो सके थे। कवि-सम्मेलनों में ये गीत बहुत लोकप्रिय हुए थे। इन गीतों में भी राष्ट्रीय ओज और गौरव की अत्यन्त भावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है, जिसकी सराहना में कई बड़ी समीक्षाएँ भी प्रकाशित होती रही।

सन् 1962 में पहली बार प्रकाशित कवि की अन्य पुस्तक **'आयाम'** है, जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी 'नई कविताओं' का संग्रह है। इस कृति में जहाँ भावों की युगानुकूल नवीनता और प्रासंगिकता है, वहीं शैली का नयापन भी प्रभावित करता है, जो आजकल अधिकांश 'नई कविताओं' में नहीं मिलता है। सन् 1962 से 1968 के मध्य डॉ. दिनेश की गद्य पुस्तकें अधिक प्रकाशित हुईं, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। सन् 1969 में इन छः-सात वर्षों में लिखी गई उनकी नई कविताओं का संकलन **'अहं मेरा गेय'** नाम से प्रकाशित हुआ। नई कविता के क्षेत्र में यह भी श्रेष्ठ कृति मानी गई तथा अनेक विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुई।

सन् 1974 में डॉ. दिनेश का **'रूपगन्धा'** काव्य प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में दो खण्ड हैं रूपगन्धा एवं नई सुबह की धूप। दोनों ही खण्डों में अधिकाशंतः पूर्णतः गेय भावपूर्ण गीत हैं। प्रथम खण्ड के गीतों में जीवन की प्रेम, करुणा आदि सरस भावनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है तथा द्वितीय खण्ड में जीवन की कुछ यथार्थ विडम्बनाओं का चित्रण हुआ है, जिनके सरोकार प्रासंगिक जीवन से बहुत गहराई तक जुड़े हुए हैं। यह काव्य भी राजस्थान साहित्य अकादमी के काव्य-पुरस्कार से सम्मानित हुआ।

'रूपगन्धा' के बाद डॉ. दिनेश की साहित्य-साधना फुटकर कविताओं के अलावा समालोचना, शोध, नाटक, कथा आदि विधाओं की ओर अधिक उन्मुख रही। इसी दौरान सन 1983 में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (इलाहाबाद) ने उन्हें देव पुरस्कार ग्रन्थावली **'आधुनिक कवि-20'** के रूप में प्रकाशित करने के लिए चुना, जो एक अत्यन्त स्मरणीय घटना थी, क्योंकि इस से पूर्व इस माला में महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त आदि वरिष्ठ कवियों को प्रकाशित किया गया था। सन् 1984 ई. में डॉ. दिनेश का यह कविता-संग्रह 34 पृष्ठों के विस्तृत आत्मालोचन एवं चित्र व हस्ताक्षरित कविता के साथ प्रकाशित हुआ। इस काव्य की भूमिका में हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल ने, जो उस समय सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री थे, प्रकाशकीय में लिखा-- "प्रस्तुत काव्य-संग्रह इस (देव पुरस्कार ग्रन्थावली) का बीसवाँ पुष्प है, जिसमें हिन्दी के प्रतिनिधि कवि डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' के गीत और कविताएँ संग्रहीत हैं। अपने युग की हुंकार को काव्य-मय रूप में प्रस्तुत करने वाले सिद्धहस्त कवियों में उनकी गणना होती है।

महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन और राष्ट्रीय संघर्ष को अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण श्री दिनेशजी राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रतिनिधि हस्ताक्षरों की पंक्ति में दिखाई पड़ते हैं। वे विकसनशील कवि रहे हैं, जिनकी रचनाधर्मिता, देश-प्रेम, अध्यात्म के साथ-साथ अभिनव यथार्थबोध को सम्पृक्त करके निरन्तर प्रशस्त होती है। मुक्त गीतों एवं कविताओं के साथ-साथ आपने लोकप्रिय महाकाव्य एवं खण्डकाव्यों का भी प्रणयन किया है। इनमें पौराणिक मिथकों के माध्यम से भी नये जीवन-दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। निश्चय ही श्री दिनेश वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दर्शन की मधुमती भूमिका का आस्वाद अपनी काव्य-माधुरी द्वारा सहृदय पाठकों को प्रदान करते हैं।

सन् 1985 में डॉ. दिनेश की राष्ट्रीय कविताओं का नया संग्रह **'जले शौर्य का दीप'** नाम से प्रकाशित हुआ। इस काव्य में कवि की 45 गेय कविताएँ

संकलित हैं। राष्ट्र के विभिन्न सरोकारों एवं जीवन की यथार्थ संवेदनाओं से उद्भूत सभी कविताएँ कवि की मानववादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं। आचार्य डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने इस संग्रह की विस्तृत भूमिका में डॉ. दिनेश की काव्यधारा का सप्रमाण मूल्यांकन किया है। पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं के फुटकर प्रकाशन के पश्चात् लगभग 8 वर्षों के अन्तराल से डॉ. दिनेश की नई कविताओं का बहुत चर्चित संग्रह **'साक्षी है सूर्य'** 1993 ई. में प्रकाशित हुआ। इन आठ वर्षों में वे शोध एवं आलोचना के क्षेत्रों में विशेष सक्रिय रहे। **'साक्षी है सूर्य'** में उनकी 41 नई कविताएँ संकलित है। विद्वानों ने इस कृति को नई कविता-धारा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना है।

सन् 1998 में डॉ. दिनेश का **'यह तुम्हारा गाँव है'** कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें उनकी 38 नई कविताएँ संकलित हैं। प्रथम कविता के नाम पर इस काव्य का नामकरण हुआ है। आतंकवाद और हिंसा के विरुद्ध यह डॉ. दिनेश की एक अत्यन्त लोकप्रिय कविता है। अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इस पुस्तक की प्रशंसात्मक समीक्षाएँ छपी। जीवन की वर्तमान विसंगतियों एवं विडम्बनाओं, प्राकृतिक आपदाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों के बिखराव के साथ-साथ अन्य सामाजिक प्रश्नों से सम्बन्धित इस संग्रह की सभी कविताएँ कालजयी कृति का रूप ले लेती हैं। 1998 के पश्चात् भी पत्र-पत्रिकाओं में डॉ. दिनेश की कई महत्त्वपूर्ण कविताएँ छपी हैं, जो सभी दृष्टियों से प्रासंगिक हैं तथा विभिन्न जीवन-सन्दर्भों का मार्मिक चित्रण करती हैं जिनका **'बंजर होता इतिहास'** एवं **'अनश्वर गीत'** नाम से दो पुस्तकों के रूप में 2004 ई. में प्रकाशन हो चुका है। 1998 में राजस्थान ब्रजभाषा अकादमी, जयपुर ने डॉ. दिनेश के विशेष सम्मान के अवसर पर ब्रजभाषा में लिखित उनकी कविताओं का **'ब्रजभाषा साहित्यकार दर्पण-52'** नामक एक कविता संकलन भी प्रकाशित किया था। इसमें उनके ब्रजभाषा के 101 दोहे तथा अन्य कविताएँ संकलित हैं।

अब तक के उल्लेख के अनुसार डॉ. दिनेश की काव्य-साधना का सुफल हिन्दी जगत् को प्रकाशन-वर्ष के अनुसार निम्नांकित काव्य-कृतियों के रूप में मिल चुका है- 1. कविशाला-1946 ई.। 2. वीरांगना-1948 ई.। 3. विश्वज्योति बापू-1950 ई.। 4. संघर्षों के राही-1951 ई.। 5. दुर्वासा-1959 ई.। 6. उत्सर्ग-1959 ई.। 7. सर्वोदय के गीत-1959 ई.। 8. जयघोष-1961 ई.। 9. गौरवगान-1961 ई.। 10. सारथी (महाकाव्य)-1961 ई.। 11. जलती रहे माल-1962 ई.। 12. हिमप्रिया-1962 ई.। 13. आयाम-1962 ई.। 14. मधुरजनी-1966 ई.। 15. अहं मेरा गेय-1969 ई.। 16. रूपगन्धा-1974 ई.। 17. आधुनिक कवि-20-1984 ई.। 18. जले शौर्य का दीप-1985 ई.। 19. साक्षी है सूर्य-1993 ई.। 20. यह तुम्हारा गाँव है-1998 ई.। 21. ब्रजभाषा साहित्यकार-दर्पण-1998 ई.। 22. बंजर होता इतिहास-2004 ई.। 23. अनश्वर गीत-2004 ई.। 24. गाते हुए चलो -2013। 25. अपना घट तो देख (दोहावली) मुद्रणाधीन। उनके नाटकों में भी कई गीत हैं, जो पृथक् अध्ययन का विषय है।

कथा-साहित्य - डॉ. दिनेश की कथा के क्षेत्र में पुस्तकाकार तीन कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय प्रकाशित उनकी कुछ कहानियों का एक संग्रह **'चौराहे का आदमी'** प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की सभी कहानियों में सामाजिक जीवन-सम्बन्धों के बदलाव और बिखराव के साथ-साथ पुराने जीवन-मूल्यों में आ रहे परिवर्तन एवं संवेदनशून्य होते सामाजिक रिश्तों को असरदार भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

'राह और रोशनी' तथा **'बदलती रेखाएँ'** उनके दो सामाजिक उपन्यास हैं। **'बदलती रेखाएँ'** का द्वितीय संस्करण वाणी प्रकाशन, दिल्ली से **'शेषनाग के किनारे'** नाम से प्रकाशित हुआ था। **'राह और रोशनी'** इससे पहले छप चुका था। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की आर्थिक जटिलताओं के मध्य

किसान और साहूकार के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया गया है। 'शेषनाग के किनारे' चम्बल के बीहड़ों में असामाजिक जीवन जीने वाले चन्दन नामक दस्यु की कथा है, जो अन्त में अपने पापों का प्रायश्चित करता हुआ अमरनाथ की यात्रा करता है और जिस सुन्दरी के कारण वह दस्यु-जीवन अपनाने को बाध्य हुआ था, उससे शेषनाग नदी के किनारे अचानक उसकी भेंट होती है। दस्यु-जीवन पर हिन्दी का यह पहला आंचलिक उपन्यास है जिसमें आगरा, भिण्ड एवं मुरैना जिलों के चम्बल क्षेत्र की भौगोलिक स्थितियों के मध्य जीने वाले लोगों की विकट, सामाजिक परिस्थितियों एवं उन्हीं में जीवन का उल्लास खोजने वाली संस्कृति की प्रवृत्तियों का रोमांचकारी चित्रण अत्यन्त रोचक भाषा में किया गया है।

नाटक - अब तक डॉ. दिनेश के नाटक प्रकाशित हो चुके हैं- 1. धरती का देवता, 2. सदानीरा, 3. कुणाल, 4. लोक-देवता जागा, 5. पृथ्वीराज, 6. द्रोण का (एकांकी संग्रह), 7. हिमपुरुष की हत्या (एकांकी संग्रह), 8. टूटे हुए सेतु, 9. लौट आओ वासन्ती (ध्वनि-रूपक संग्रह), 10. आस्था का सूर्य, 11. राज्याभिषेक। डॉ. दिनेश के अनेक एकांकी सन् 1951 से पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं तथा आकाशवाणी से प्रसारित हुए हैं। कुछ एकांकियों एवं नाटकों का रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय भी हुआ है। उनके नाटकों के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने समीक्षाएँ लिखी हैं, जिनमें उनकी नाट्य-कला को प्राचीन और नवीन नाट्य-शैलियों का मिश्रित अभिनव प्रयोग बताया गया है। यही कारण है कि डॉ. दिनेश के सभी नाटक एवं एकांकी जहाँ पठनीय रोचकता रखते हैं, वहाँ रंगमंच एवं ध्वनि-प्रसारण की भी अद्‌भुत योग्यता उनमें पाई जाती हैं। इन्हीं गुणों के कारण डॉ. दिनेश के कई एकांकी माध्यमिक स्तर से स्नातक-स्तर तक माध्यमिक बोर्डों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्वीकृत रहे हैं और अब भी हैं। समसामयिक जीवन की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए डॉ. दिनेश ने ऐतिहासिक कथावृत्तों को भी नया रंग दिया है एवं भाषा-शैली को लोकजीवन से जोड़कर हर नाटक को पठनीय दृष्टि से भी रोचक बना दिया है। उनके नाटकों पर कई शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं।

रंगमंचीय दृष्टि से डॉ. पृथ्वीराज मालीवाल ने डॉ. दिनेश के नाटकों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि- "डॉ. दिनेश की नाट्य-साधना का शुभारम्भ 1951 से उनके प्रथम नाटक 'धरती का देवता' के प्रकाशन के साथ हुआ। उस समय वे लोक-रंगमंच से एक अभिनेता के रूप में जुड़े हुए थे। साक्षात्कार से ज्ञात हुआ कि उस समय आगरा क्षेत्र में तीन नाटक-मण्डलियाँ कार्य करती थीं, जिनमें से 'इप्टा' नाम से आज प्रसिद्ध नाट्य-संस्था के श्री राजेन्द्र रघुवंशी और मथुरा के विश्वप्रसिद्ध रंगकर्मी तथा फिल्म-कलाकार डॉ. कृष्णवल्लभ मिश्र के साथ उन्होंने स्वयं कई बार अभिनय में भाग लिया था। ये मण्डलियाँ हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न लोक-नाट्यों की विशेषताएँ लेकर स्वयं नाटक तैयार करवाती थीं और अपने अनुकूल मंच का निर्माण करके उनका मंचन करती थीं। डॉ. दिनेश का नाटक **'धरती का देवता'** उसी मंच के लिए लिखा गया था और सफलता-पूर्वक प्रथम बार आगरा जिले की तहसील बाह के प्रसिद्ध बटेश्वर मेले में खेला गया था, जिसे हजारों दर्शकों ने देखा और सराहा था। इसका द्वितीय बार आगरा में मंचन हुआ था और फिर यह वहीं से प्रकाशित भी हुआ। यह एक सामाजिक नाटक है, जिसमें एक भिखारी को नाटक का नायक बनाया गया है। नाटक की समस्त कथा खुले रंगमंच पर उसी के इर्द-गिर्द घूमती है तथा नौटंकी, रसिया और भाण आदि लोक-नाट्य रूपों के सहारे समस्त अभिनय चलता है। जीवन के नग्न यथार्थ और सांस्कृतिक शोषण का यह नाटक एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो अंग्रेजी शासन के खूनी पंजों की जकड़न को तोड़ने के लिए फौलादी हथौड़े का काम करता है। उस समय डॉ. दिनेश एक

विद्रोही युवा कवि थे। इस नाटक में पाँच गीत हैं, जो उनकी क्रान्तिकारी भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं।

उनका **'लोक देवता जागा'** नाटक सन् 1964 में प्रकाशित हुआ। यह नाटक भारत सरकार से पुरस्कृत हो चुका है। इस नाटक में वे पुनः पूर्णतः लोक-नाट्यों की रूढ़ियों में नये रंगमंचीय दृष्टिकोण का समावेश करते हैं तथा शिल्प को ही नहीं, कथावस्तु एवं पात्र-चरित्रों का विकास भी लोक भूमि पर करते दिखाई देते हैं। उनका **'सदानीरा'** एवं **'टूटे हुए सेतु'** नाटक सामाजिक कथानकों पर लिखे गये हैं, जिनमें न तो दृश्य-विधान की जटिलता है और न संवादों की उबाने वाली स्थिति। खुले रंगमंच पर प्रकाश-व्यवस्था के विभिन्न प्रयोग करते हुए इनका सफलतापूर्वक मंचन किया जा चुका है। ये दोनों नाटक भी आगरा से साठ के दशक में प्रकाशित हुए थे। **'विजय पर्व'** नाटक में भारत की आजादी से संबंधित विषय-वस्तु है। **'पृथ्वीराज'** में मेवाड़ के राजवंश का कलह चित्रित है। इसमें संग्रामसिंह के सहोदर पृथ्वीराज का प्रक्षेपण करते हुए यह दृष्टि नाटक के दर्शकों तथा पाठकों को दी गई है कि शासन करने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो वीर, राष्ट्रभक्त, जनसेवक तथा सच्चरित्र हो। इस नाटक का मंचन बहुत सरल और प्रभावशाली है। दृश्य-परिवर्तन प्रायः लोक-रंगमंचीय प्रणाली से ही हुए हैं। नाटक का प्रारम्भ ही अत्यन्त आकर्षक ढंग से होता है। डॉ. मालीवाल लिखते हैं कि "आरम्भ में गीत से संघर्ष और प्रेम की चमत्कारपूर्ण वह भूमिका उभरती है, जो विभिन्न घटनाओं को समेटती हुई अन्त में ताराबाई और पृथ्वीराज के विवाह में परिणत हो जाती है।" फिर नाटक का अन्त एक प्रभावशाली राष्ट्रीय भावनायुक्त गीत से ही होता है। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं - **"मेवाड़ी रण के मतवाले। / जन्मभूमि के नित रखवाले। / जहाँ-जहाँ चमकाए भाले/ किसमें बल जो ठहरे! / हमारा विजयी ध्वज लहरे!"**

डॉ. दिनेश का नाटक **'कुणाल'** प्रसिद्ध कुणाल-कथा पर आधारित है जिसमें अशोक-कालीन कुछ नये तथ्यों के आधार पर एक नितान्त भिन्न दृष्टि से कथावस्तु तथा चरित्रों का विकास हुआ है। इसमें इस धारणा को सिद्ध किया गया है कि अशोक बौद्ध धर्म अपना लेने के पश्चात् भी तिश्यरक्षिता को जीवित जला डालने का क्रूर हिंसा-कर्म करता है। राजनीति की क्रूरताओं का नाटकीय ढंग से चित्रण करते हुए डॉ. दिनेश इस नाटक में समकालीन परिस्थितियों का कुशलतापूर्वक प्रक्षेपण करते हैं, जो एक महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक उपलब्धि है। **'आस्था का सूर्य'** 2001 में प्रकाशित नाटक है, जिसमें संचय और अपहरण की वृत्तियों का संघर्ष दिखाया गया है। **'कुणाल'** को परिवर्धित बड़े आकार में नया रूप देकर **'राज्याभिषेक'** नाम से 2004 ई. में प्रकाशित किया गया है, जो नाटक-विधा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

अपने एकांकियों एवं संगीत-रूपकों में भी डॉ. दिनेश लोक-नाट्य तथा शास्त्रीय नाट्य-सीमाओं का समन्वित प्रयोग करके अपनी नाटककला को एक ओर जनता की पहुँच के भीतर रखते हैं और दूसरी ओर वे उसके साहित्यिक स्तर की भी सभी प्रकार से रक्षा करते हैं। **हिमपुरुष की हत्या** एवं **द्रोण का शिष्य** एकांकी-संग्रहों के पश्चात् 2000 ई. में प्रकाशित उनका नवीनतम ध्वनिरूपकों का संग्रह **'लौट आओ बासन्ती'** विश्व पर मँडरा रहे आतंकवादी संकटों से जुड़ी सम्वेदनाओं का जीता-जागता दस्तावेज है।

शोध और आलोचना -- आलोचना के क्षेत्र में डॉ. दिनेश का प्रवेश 1951 ई. में हुआ, जब उनके आलोचनात्मक लेख एवं समीक्षाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर रूप में प्रकाशित होना आरम्भ हुई। पश्चात् वे स्वयं **सरस्वती-सम्वाद** के और बाद में **समीक्षालोक** के प्रधान सम्पादक बन गये, तब उन्हें इन पत्रिकाओं के लिए सम्पादकीय लेख के रूप में आलोचनाएँ लिखनी पड़ती थी। पी-एच. डी.

उपाधि के लिए और बाद में डी. लिट्. के लिए शोध-कार्य भी इस यात्रा में उनके महत्त्वपूर्ण पड़ाव बने। पी-एच. डी. के लिए लिखा गया उनका शोध-प्रबन्ध **हिन्दी काव्य में नियतिवाद** हिन्दी के उत्कृष्टतम शोध-प्रबन्धों में माना गया, जिसका प्रकाशन इलाहाबाद के प्रसिद्ध प्रकाशक 'किताब महल' ने सन् 1962 में किया। लेखों के रूप में उनकी एक हजार से भी ऊपर आलोचनामक रचनाएँ अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। कई दैनिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में वे नियमित रूप से वर्षो तक पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखते रहे। प्रसाद कृत कामायनी पर उनका शोध-कार्य अत्यधिक सराहा गया मौलिक शोध कार्य है। **'कामायनी का नया अन्वेषण'** शीर्षक ग्रन्थ में डॉ. दिनेश ने प्रथम बार यह सिद्ध किया है कि 'कामायनी' को मात्र मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक काव्य मानना एक बहुत बड़ा भ्रम है और कामायनी के मूल कथ्य के विपरीत है। डॉ. दिनेश ने कामायनी की समस्त कथा, पात्रों एवं दार्शनिक शब्दावली का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया है कि यह एक शैवदार्शनिक काव्य है। उन्होंने उद्धरणों की प्रामाणिकता के आधार पर प्रथम छन्द से अन्तिम छन्द तक कामायनी के कथ्य में क्रमपूर्वक बिखरी हुई शैव-दर्शन की शब्दावली के मन्तव्यों को बहुत कुशलता से तर्क-संगत आधार पर अनावरणित किया है। **'हिन्दी शिव-काव्य का उद्भव और विकास'** डॉ. दिनेश की एक अन्य विशाल शोधात्मक महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में हिन्दी में रचित समस्त शिवकाव्य का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ को उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति ने सन् 1972 में तुलसी-पुरस्कार से विभूषित किया था। अब तक इस ग्रन्थ के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। **'पण्डित श्रीराम शर्मा'** इनकी व्यक्तित्व-निदर्शक कृति है।

आलोचना-सम्बन्धी उनके लगभग 45 ग्रन्थों में से जिन अन्य ग्रन्थों का यहाँ नामोल्लेख किया जाना अत्यन्त अपेक्षित है, वे हैं-- **'अपभ्रंश भाषा : व्याकरण और साहित्य', 'प्रेमचन्द का गोदान', 'मानविकी शोध प्रविधि', 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास', 'सूरति मिश्र का अज्ञात काव्य', 'खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि', हिन्दी भाषा और समीक्षा', 'मीरा : जीवन और काव्य', 'भाषा विज्ञान और हिन्दी'** आदि। पाठालोचन और पाठ सम्पादन के क्षेत्र में भी डॉ. दिनेश का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उन्होंने रीतिकालीन कवि सूरति मिश्र के 17 अज्ञात ग्रन्थों का विभिन्न संग्रहालयों में उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर पाठ-सम्पादन करके चार खण्डों में **'सूरतिमिश्र-ग्रन्थावली'** का पाठालोचनपूर्वक प्रकाशन कराया है। **सूरति मिश्र का अज्ञात काव्य** पर उन्हें 1972 ई. में आगरा विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की थी। रीतिकाल के ही एक अन्य प्रसिद्ध कवि सोमनाथ का **'शशिनाथ-विनोद'** भी डॉ. दिनेश ने पाठ-सम्पादन करके विस्तृत प्रामाणिक तथ्य-परक भूमिका लिखकर प्रकाशित कराया है। **'पाण्डुलिपि-सम्पादन कला'** उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था, किन्तु अब अप्राप्य है। भाषाविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र पर उनके ग्रन्थ अब दुर्लभ हो चुके हैं।

निबन्ध-संग्रह -- डॉ. दिनेश के चार मौलिक विवेचनात्मक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं - 1. मीमांसा और मूल्यांकन, 2. शोध और समीक्षा, 3. साहित्य के नये सन्दर्भ, 4. साहित्य का परिवेश और चेतना। इन चारों पुस्तकों में डॉ. दिनेश के प्रमुख आलोचनात्मक एवं ललित निबंध संकलित हैं।

अन्य विषयक ग्रन्थ-- डॉ. दिनेश ने लोक-जीवन और संस्कृति पर भी कई पुस्तकें लिखी हैं तथा राजस्थान के दुर्गों, मन्दिरों, लोककलाओं का भी आकलन किया है। देश-विदेश की यात्राएँ करके उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उनका भी कई यात्रा-वृत्तान्तों के रूप में प्रकाशन कराया है। बालकों

के लिए महापुरुषों की जीवनियों पर उनकी पुस्तकें बहुत सराही गई हैं। **'हम धरती के लाल'** तीन खण्डों में बच्चों के लिए लिखित एक सुन्दर उपन्यास है। **'बच्चों के बापू', 'अच्छे बच्चे', 'आचार्य विनोबा', 'वीर शिवाजी', 'महाराणा प्रताप'** आदि उनकी प्रसिद्ध बाल-कृतियाँ हैं। पत्रकारिता पर एवं प्रौढ़-पाठकों के लिए भी डॉ. दिनेश ने कुछ किताबें लिखी हैं, जिनमें **'हमारी सांस्कृतिक धरोहर', 'हिन्दी पत्रकारिता के राष्ट्रीय सरोकार'** आदि प्रमुख हैं! भीली जीवन की संस्कृति एवं भाषा का व्यावहारिक रूप में अध्ययन करके उन्होंने **'भीली संस्कृति एवं शब्दावली'** ग्रन्थ भी तैयार किया।

डॉ. दिनेश के यात्रा वृत्तान्तों में **'मॉरीशस में भारत', 'साम्यवादी देशों की यात्रा'** तथा **'भारतीय संस्कृति के पूर्वी क्षितिज'** शीर्षक ग्रन्थ प्रमुख हैं। 'मॉरीशस में भारत' डॉ. दिनेश की मॉरीशस-यात्रा का रोचक विवरण प्रस्तुत करता है। इसमें भारतीय श्रमिकों की संघर्ष गाथा और वहाँ के जीवनानुभव गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। डॉ. दिनेश ने रूस, पूर्वी जर्मनी (एकीकरण से पूर्व साम्यवादी देश), चीन तथा उत्तरी कोरिया की, व्याख्यानादि की दृष्टि से जो यात्राएं की थीं, उनका सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर विस्तृत वर्णन **'साम्यवादी देशों का समाज'** नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में विशेषतः साम्यवादी समाज-व्यवस्था की मूलभूत विशेषताएँ प्रकाश में लाई गई हैं। 'भारतीय संस्कृति के पूर्वी क्षितिज' ग्रन्थ में उनकी जापान एवं थाईलैण्ड की यात्राओं के अनुभव चित्रित हुए हैं, जो मुख्यतः भारत और इन देशों के सांस्कृतिक सम्बन्धों को बहुत गहराई से उजागर करते हैं। डॉ. दिनेश अभी भी अपनी 'आत्मकथा' और रहीम पर नाटक लिखने में लगे हुए (लेखन के प्रति उनकी यह निष्ठा प्रणम्य है)।

पण्ड्या निवास
घंटाघर के पास, त्रिपोलिया मार्ग
बाँसबाड़ा (राजस्थान) - 240371
मो.- 9414237224

●

आत्मरथी

मनुष्य शरीर को उपनिषद्कार ने रथ की संज्ञा दी है। यह शरीर एक दिव्य रथ है। इसकी बनावट, सजावट व इसकी रचना अद्‌भुत, कलात्मक एवं सूक्ष्म है। इसको संभालकर रखने से ही जीवन की तीर्थयात्रा सध सकती है। यह शरीर 'धर्म-साधना का मूलाधार है। इसको निरोग रखना पहला सुख है।' **'पहला सुख निरोगी काया।'**

इस रथ में इंद्रियों के दस अश्व जुड़े हैं। इन घोड़ों को ट्रेंड करना, इनको राजी रखना, इनको वश में रखना- इनमें मेल बैठाना- यह श्रमसाध्य है। इसी का नाम है साधना।

इन घोड़ों को ठीक तरह से चलाने के लिए मन ही लगाम है। पर, मन की यह लगाम सारथी के हाथ में रहे और सारथी है– बुद्धि।

यानी यदि सारथीरूपी बुद्धि सतत जागरूक हो, विवेक संपन्न हो, उसके हाथ में शांत मनरूपी मजबूत लगाम हो और प्रशिक्षित इंद्रियों के अश्व हों तो हमारा जीवन-रथ भटकेगा नहीं, अटकेगा नहीं– लक्ष्य की ओर द्रुत गति से धावमान होगा। यह सांगरूपक कभी भुलाया नहीं जा सकता।

शरीर - रथ, इंद्रियां - अश्व, मन - लगाम, बुद्धि - सारथी।
और हम जीवात्मा हैं- रथ के मालिक – रथी।

अज्ञेय के काव्य में अलंकार

डॉ. मनमीत कौर

अज्ञेय की काव्य-भाषा पर टिप्पणी करते हुए विद्वान आलोचक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं, "प्रयोगवाद में अज्ञेय के माध्यम से काव्य-भाषा का पुनर्सृजन आरंभ होता है। भाषा के सम्बन्ध में अज्ञेय जैसी सावधानी कम ही रचनाकारों ने बरती है। अज्ञेय के प्रशंसक कुछ ऐसे पाठक एवं समीक्षक हैं जो उनके कथ्य से सहमत न होते हुए भी उनकी कला के बहुत बड़े उपासक हैं। संभवतः वे नहीं जानते कि भाषा का अधिक-से-अधिक सतर्क और सृजनात्मक प्रयोग करके ही अज्ञेय ने अपनी कला को इतना निखारा है। भाषा जितनी सृजनात्मक होगी, कलाकृति उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक होगी।"[1] वस्तु और शिल्प का संबंध अविभाज्य है। अज्ञेय का मन्तब्य स्पष्ट है, "वस्तु को शिल्प से अलग नहीं किया जा सकता।"[2] काव्य के दो पक्ष हैं, भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष का सीधा संबंध रागात्मक तत्वों से है, जिनमें संवेदना और अनुभूति ही प्रधान है। वस्तुतः यही काव्य की आत्मा है। कलापक्ष द्वारा ही भावपक्ष सहृदय पाठक के अंतःकरण को रससिक्त कर रूपहीन भावों को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। अर्थात् कलापक्ष भावपक्ष को वहन करने का एक माध्यम है। शैली की व्यापकता के अंतर्गत अलंकार, छंद, रस एवं काव्य के अन्य कई उपादान समाविष्ट होकर कलापक्ष की सारी सौंदर्य-सृष्टि में वृद्धि करते हैं।

अलंकारों का विवेचन काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इनके क्रमबद्ध विवेचन के पूर्व इनका बिखरा हुआ प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में किए गए आलंकारिक प्रयोग उल्लेखनीय हैं। विशेष रूप से वे प्रसंग इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जहां काव्यात्मक शैली का अनुगमन किया गया है। होता (हवन करनेवाले) यज्ञों में सम्मिलित होने के लिए देवताओं का आवाहन करते हैं और यजमान को मनोवांछित फल प्राप्त करने के निमित्त उनकी नाना प्रकार से स्तुति करते हैं। इन स्तुतिपरक विभिन्न प्रकार के छंदों में आलंकारिक प्रयोग मिलते हैं। रामायण, महाभारत तथा अन्य परवर्ती संस्कृत काव्य में भी अलंकारों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है।[3] 'आक्सफोर्ड जूनियर इन्साइक्लोपीडिया के अनुसार, अलंकार पाठक की कल्पना शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित करते हैं कि जिससे वह वस्तुतः विचारों को अधिक व्यापक रूप में ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है।[4] अलंकारिकता, शिल्प-धर्मिता के लिए एक अपरिहार्य उपादान है। वस्तुतः अभिव्यक्ति के लिए भाषा का एक सशक्त एवं प्रभावशाली रूपांतर है।

अज्ञेय सम्पूर्ण भाषा को, जिसमें अलंकार भी आ जाते हैं, एक जीवंत व्यवहार के रूप में लेते हैं। उन्हें भाषा का वह रूप पसंद है, जिसमें ताजगी हो तथा जो 'वस्तु' को पूरी ईमानदारी के साथ रूपायित होने में सहायता पहुंचाए। मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय दो ऐसे अलंकार हैं, जिनके सहारे जड़ और चेतन, सभी सहज संचेतित हो उठते हैं। अज्ञेय 'वस्तु' के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले एक जीवंत कलाकार के रूप में प्रतिष्ठापित हैं।[5] यही कारण है कि उनके यहां आग्रहपूर्वक आलंकारिक शब्द योजना की बजाय सहज संप्रेष्य अलंकारों का प्रयोग हुआ है जिससे उनका कथ्य अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है।

मानवीकरण अलंकार आधुनिक कवियों का सबसे प्रिय अलंकार रहा है। अज्ञेय की कविताओं में बड़ी कलात्मकता के साथ इसका प्रयोग हुआ है। 'मानवीकरण' को परिभाषित करते हुए 'हिंदी साहित्य कोश' में लिखा है, 'अमानव में मानव-गुणों के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को मानवीकरण कहा जाता है।'[6] अज्ञेय की 'हमने पौधे से कहा', 'कतकी पुनो', 'असाध्यवीणा', 'ऋतुराज', 'खुल गई नाव' जैसी अनगिनत कविताओं में इस अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है। जैसे 'मलय का झोंका बुला गया', 'पीपल की सूखी खाल स्निग्ध हो चली', 'हँस उठी कचनार की कली', 'टेसुओं की आरती सजा के बन गई वधू वनस्थली', 'ऊषा जाग उठी प्राची में', 'पूर्णिमा की चांदनी सोने नहीं देती', 'स्मृति की सूखी स्रजा रूआँसी एक सहेली होगी', 'ऊँघ रहे हैं तारे', 'यह दीप अकेला स्नेह भरा है गर्व भरा मदमाता', 'तरंग पंखयुक्त वीणा पर पवन ने भर उमंग गाया', 'घाटी की पगडंडी लजायी और ओट हुई', 'सूनी-सी साँस एक दबे पांव मेरे कमरे में आई थी', 'पथ सोया ही रहा', 'किनारे के क्षुप चौंके नहीं न काँपी डाल', 'न कोई पत्ती दरकी', 'बनखंडी में सधे खड़े चीड़ जागकर सिहर उठे, सनसना गए', 'कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी' आदि पंक्तियों में मानवीकरण अलंकार ने विलक्षण चमत्कार उत्पन्न किया है।[7]

विशेषण-विपर्यय अंग्रेजी के ट्रांसफर्ड एपीथेट के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। यह अंग्रेजी काव्यशास्त्र का एक अलंकार है, जिसमें व्यक्ति के विशेषण को उससे सम्बद्ध वस्तु का विशेषण बना दिया जाता है।[8] छायावाद और उसके बाद के हिंदी काव्य में विशेषण-विपर्यय का व्यवहार बहुलता से हुआ है। अज्ञेय के यहाँ 'साम्राज्ञी का नैवेद्य दान' (प्याला जीवन का), 'खुल गई नाव' (मूर्छित व्यथा में) आदि कविताएं विशेषण-विपर्यय अलंकार के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'लजाती साँझ', 'संकल्प मेरा द्रवित आहूत', 'ममतामयी बाँहें', 'बाँझ अनुकम्पा', 'मुखर-तपती वासनायें', 'गोपन लज्जा में लिपटा सहमा स्वर', 'ओटती कानी घृणा', 'गंधप्रवण शीतलता', 'अस्पर्श छुअन', 'जब तारों की तरल कँपकँपी स्पर्शहीन झरती है' आदि पदों में विशेषणविपर्यय अलंकार का सौंदर्य विद्यमान है। साथ ही 'पंक्तियों पर बूंदों की पटापट', 'रेतीले कगार का गिरना छप-छडाप', 'मेड़ से बहते जल की छुल-छुल', 'संध्या गोधूलि की लघु टुनटुन', 'घरघराहट चढ़ती बहिया की', 'झंझा की फुफकार', 'पेड़ों का अरराकर टूट-टूट कर गिरना', 'गर्जन घुर्घट, चीख, भूँक, हुक्का', 'चिचियाहट' आदि पंक्तियों में ध्वन्यर्थव्यंजना अलंकार का माधुर्य विद्यमान है।[9]

अलंकार योजना के अंतर्गत *उपमेय-उपमानों* का विशिष्ट महत्व है। प्रयोगवादी दौर में नए उपमानों को काव्य में लाने पर बल दिया गया जिसका प्रणेता अज्ञेय को माना गया। 'कलगी बाजरे की' इस संदर्भ में उनकी प्रसिद्ध कविता है जिसमें वे उपमानों के मेले लग जाने की बात करते हैं। अपनी कविताओं में अज्ञेय ने नए-नए उपमानों का सुंदर प्रयोग किया है। साधारणतया 'अप्रस्तुत' शब्द 'उपमान' का पर्याय है। आज अनेक समीक्षक 'उपमान' के स्थान पर 'अप्रस्तुत' का अधिक प्रयोग करने लगे हैं। इसका

कारण यह है कि 'अप्रस्तुत' से अधिक व्यापक अर्थ की प्रतीति होती है।[10] उपमा में प्रस्तुत की अप्रस्तुत से तुलना की जाती है तथा रूपक में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कर दिया जाता है। अवगुंठन-सा लालिमा गगनांबर, पराग-सी स्मृति धूल, दहकते दाडिम पुहुप-से ओठ, उमंगों-सी डगर, सुलगे अंगार-सा गुड़हल, दर्द की रेखा-सी नदी, अफराये डांगर-सी रेलें, अंगारे-सा भगवान-सा मानव, सरि, सागर, सोते, निर्झर-सा जीवन आदि में उपमा की तथा सूरज का जपा फूल, बादल-सेज, धूप-कनक, रूप-केकी, आलोक-कशा, नभ का कच्चा आंगन, महाशून्य का शिविर, स्वर-तार, जिंदगी का रेश्तराँ, अंधकार का सागर, भावों का अनंत क्षीरोदधि, शब्द-शेष, आलोक की अनी आदि में रूपक की योजना द्रष्टव्य है। इनमें आए हुए अप्रस्तुतों में नयापन संदर्भ को लेकर है। प्रस्तुत की भाव-व्यंजकता को बढ़ाने में ये सक्षम हैं तथा कवि की कल्पना-प्रवणता को सूचित करते हैं। जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना हो वहां उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। 'राजमुकुट सहसा हल्का हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का', 'ओस-बूँद की ढरकन इतनी कोमल, तरल कि झरते-झरते मानो हरसिंगार का फूल बन गई', 'दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़ हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ' आदि में उत्प्रेक्षा की स्थिति देखी जा सकती है।[11]

'उड़ चल हारिल लिए हाथ में यही अकेला ओछा तिनका' पंक्ति में *अन्योक्ति अलंकार* के द्वारा, 'हरी बिछली घास, डोलती कलगी छरहरी बाजरे की' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार के द्वारा, 'लजाती साँझ के नभ की अकेली तारिका...या शरद के भोर की नीहा-न्हायी कुंई' में संदेह अलंकार के द्वारा, 'कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है' में दृष्टांत अलंकार के द्वारा, 'यह दीप-यह मधु है... यह गोरस... यह अंकुर ... यह 'प्रकृत' आदि में उल्लेख अलंकार, के द्वारा 'वैसी शीतल अनल-शिखा न फिर जली' में विरोधाभास अलंकार के द्वारा, 'अरे अंतःसलिला है रेत, अनगिनत पैरों तले रौंदी हुई अविराम... पड़ी सज्जाहीन, धूसर-गौर, निरीह और उदार' में समासोक्ति अलंकार के द्वारा अज्ञेय ने अपने कथन में चारुता और रमणीयता की सृष्टि की है।[12] *अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' तो अलंकार संयोजन का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। छेकानुप्रास, उपमा, संदेह, पुनरुक्तिप्रकाश, उल्लेख, अनुप्रास, मानवीकरण, वीप्सा, दीपक, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास, मालोपमा* जैसे कई अलंकारों की सुंदर छटा इस कविता में विद्यमान है। आज थका हिय हारिल मेरा ('हिय हारिल' में रूपक अलंकार), बावरा अहेरी (सूर्य को अहेरी मानकर पूरा चित्र खींचा गया-सांगरूपक अलंकार), साम्राज्ञी का नैवेद्य दान ('वहीं- वहीं' पद में-पुनरुक्तिप्रकाश और वीप्सा अलंकार, 'प्याला जीवन का में विशेषण-विपर्यय अलंकार), आज तुम शब्द न दो ('रंध्र-रंध्र से' पद में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार), बड़े शहर का साक्षात्कार (जो भुला देता...भूल गए होने को-विरोधाभास अलंकार), ना जाने केहि भेस ('मद में' द्विअर्थ- मदिरा और अहंकार होने से श्लेष अलंकार) आदि कविताओं में भी अलंकारों का सुंदर समायोजन देखा जा सकता है।

एक संस्कारी एवं सर्जनात्मक काव्य-भाषा के निर्माण के लिए जितना प्रयत्न अज्ञेय ने किया संभवतः और किसी नये कवि ने नहीं किया। उन्होंने अभिव्यक्ति की समस्या को कवि के संदर्भ में ही नहीं प्रत्येक कविता के संदर्भ में देखा है। वे मानते हैं कि जो सर्जक अभिव्यक्ति के लिए जूझेगा, भाषा उसे निराश नहीं करेगी। 'भाषा कल्पवृक्ष है जो उससे आस्थापूर्वक माँगा जाता है भाषा वह देती है।"[13] इसी क्रम में अज्ञेय ने अनेक सुंदर उपमानों को गढ़ा है। किसी कवि की सफलता इस बात में निहित नहीं है कि उसने कितने अलंकारों या उपमानों का प्रयोग किया बल्कि उससे इतर पाठकों की कल्पना शक्ति को कितना उद्‌बुद्ध किया, यह उसकी सफलता का पैमाना है। अज्ञेय का अलंकार-विधान अभिव्यक्ति

की प्रखरता को निखारने में सहायक सिद्ध हुआ है। अज्ञेय इस कसौटी पर खरे उतरने वाले कवि हैं।

संदर्भ

1. ऋषिकल्प, रमेश, अज्ञेय की कविता: परम्परा और प्रयोग, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2008 ई. पृ. 207। 2. प्रसाद, डॉ. राजेंद्र, अज्ञेयः कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2006 ई. पृ.,175। 3. चतुर्वेदी, डॉ. देवनाथ, मध्ययुगीन हिंदी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन, हिंदी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन, संस्करण-1981 ई. पृ.-94। 4. मिश्र, डॉ. सावित्री, अज्ञेय की गद्य-शैली, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी संस्करण- 1984 ई. पृ.-13। 5. शर्मा, डॉ. बालक राम, अज्ञेय के गद्य साहित्य का शैली-वैज्ञानिक अध्ययन, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण- 1977 ई. पृ.-159। 6. वर्मा, डॉ. धीरेंद्र (प्रधान सं.), हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण- 2015 ई. पृ.-494। 7. सक्सेना, द्वारिकाप्रसाद, हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण-1983 ई. पृ.- 444। 8. वर्मा, डॉ. धीरेंद्र (प्रधान सं.). हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण- 2015 ई. पृ.- 631। 9. सक्सेना, द्वारिकाप्रसाद, हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण- 1983 ई. पृ.- 444। 10. प्रसाद, डॉ. राजेंद्र, अज्ञेयः कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण- 2006 ई. पृ.-196। 11. वही, पृ.-200-201। 12. सक्सेना, द्वारिकाप्रसाद, हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण- 1983 ई. पृ.- 443-444। 13. प्रसाद, डॉ राजेंद्र, अज्ञेयः कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण- 2006 ई. पृ.- 203।

(हिंदी विभाग, राधा गोविंद विश्वविद्यालय)
बमनडिहा, डाकघर के पास
पो.- सुन्दरचक, जिला- बर्दमान
(पश्चिम बंगाल) - 713360
मो.- 8436798282

आसुरी वृत्तियाँ

असुर होते हैं या नहीं– यह विवाद व विश्वास का विषय है। पर, आसुरी (दानवी राक्षसी) वृत्तियाँ अवश्य हैं। इसमें कोई विवाद नहीं। जिन्हें 'आसुरी संपात' कहा गया है– उनमें प्रमुख हैं- दंभ, दर्प, अभिमान व अहंकार।

दंभ का अर्थ है– 'धर्म ध्वजित्वम्' धार्मिक न होकर धार्मिक होने का ढोंग। 'बगुला भगत' इसी का नाम है।

दर्प - धन और अपने बन्धु-बान्धवों के बल पर फूलना।

अभिमान - अपने में अतिशय पूज्य भावना।

अहंकार – बात-बात में 'मैं-मैं' करना।

अपने को उचित से अधिक महत्त्वपूर्ण समझ बैठना दर्प है। किसी से अपमानपूर्वक बात करना, घृणापूर्वक पेश आना, धिक्कार देते हुए बोलना-ये सब दर्प की व्यंजनाएं हैं।

किताब पटकना, पैर पटकना- यह भी दर्प है। भौतिकता के बल पर, पद के कारण, किसी को छोटा समझना भी दर्प है। जब कोई कहता है 'मैं कौन हूँ, नहीं जानता– तू' यह दर्प है। चाहे दंभ हो, या दर्प हो, अभिमान या अहंकार हो, इनसे व्यवहार में रुक्षता, धूर्तता, धृष्टता, हठ का समावेश हो जाता है। इनके कारण व्यक्ति को अपना सही मूल्य-बोध नहीं होता, दूसरे का भी सही मूल्यांकन नहीं कर सकता।

इनके कारण उसकी भाषा होती है–'कौन है मेरे बराबर! इतना पाया है और इतना पाकर दिखा दूँगा। जो मुझसे भिड़ेगा, उसको चकनाचूर कर दूँगा।' 'अति दर्प से रावण मारा गया' यह जानकर भी अकड़ छोड़ते नहीं। हम इतिहास से, पुराण से, कितना कम सीखते हैं?

आत्मसंघर्ष का कवि : मुक्तिबोध

डॉ. राजकुमार खटीक

मुक्तिबोध समकालीन कविता की पहचान के कवि हैं। उन्हें किसी वाद की सीमा में आबद्ध करना उनकी व्यापक दृष्टि को सीमित करने जैसा होगा। वैसे तो अधिकांश आलोचकों ने उन्हें 'मार्क्सवादी कवि' माना है, इस तथ्य की पुष्टि उनकी कुछ कविताओं एवं उनके कुछ गद्य कथनों से करते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि मुक्तिबोध सहज कवि होने के साथ जागरूक चिंतक एवं सर्जक कलाकार हैं। उनकी चेतना के क्षणों को एक ही रूप में देखना एकांगी दृष्टि का परिचायक है। मुक्तिबोध हिंदी के ऐसे कवि हैं, जिनकी किसी कवि से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि मुक्तिबोध ने अंधेरे में आत्मबोध की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर उसे प्राप्त किया है। अंधकार से प्रकाश में सभी आना चाहते हैं, परन्तु प्रकाश से अंधेरे की ओर प्रस्थान सही मायने में केवल मुक्तिबोध ने किया है। मुक्तिबोध गहन संघर्ष चेतना के कवि रहे हैं, तभी उनके काव्य में मनुष्य-संघर्ष के विविध आयाम लक्षित होते हैं। इस संबंध में श्यामसुन्दर मिश्र का अभिमत है- "जीवन संघर्ष की जैसी तथ्यात्मक प्रतीति मुक्तिबोध में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। भावबोध और जीवन यथार्थ की जैसी समुन्नत और महाकाव्योचित योजना मुक्तिबोध ने प्रस्तुत की है, इतिहास की जैसी और जीवन्त संवेदनात्मक व्याख्या उनके काव्य में है और मानवीय आत्मपीड़ा और संत्रास की अभिव्यक्ति जैसी उनके द्वारा सम्भव हुई है, वैसी हिंदी कविता के क्षेत्र में किसी और कवि में नहीं पायी जाती। चाँद का मुँह टेढ़ा है संग्रह की प्रत्येक कविता जलती हुई आग का धधकता भण्डार है, जिसमें उस आग को पैदा करने वाली चेतना, यह धधकती हुई आग आधुनिक चेतना-सम्पन्न पाठक की आग बन जाती है।"

आत्मा के मित्र मेरे कविता में मुक्तिबोध स्वयं की आत्मा के चिर मित्र का वर्णन कर कह रहे हैं कि मनुष्य-आत्मा का मित्र केवल एक जो अन्यतम प्रतिरूप युक्त है। उसी में कमजोरी एवं दुलार विकास पाते हैं। बुद्धि की शलाका के अरुणतम एवं कर्म के तेज जिन्हें धारण किये हैं आत्मा कवि की है। जहाँ पितृ-मातृ स्नेह की सीमा उर में व्याप्त रहती, पत्नी के समर्पण सी तन्मय- तिमिर छाया छायी रहती है। चहुँ ओर कवि को तिमिर ही तिमिर दिखाई दे रहा है, और यहाँ तक कि नील व्योम भी श्याम वर्ण दिख रहा है। संघर्ष की छायाएँ ही व्याप्त हैं अकेली अचल धरित्री पर भी, उस धरित्री पर मुक्तिबोध एकाकीपन लिए संघर्षमयी पहचान जो तिमिर से आच्छादित है उसे ओढ़े हुए है। इस संघर्षमयी आत्मा के तिमिर को कवि के शब्द इस

प्रकार अर्थ देते हैं-- *मित्र मेरे, / आत्मा के एक !/ एकाकीपने के अन्यतम प्रतिरूप/ जैसे अधिक एकाकी हृदय/ कमजोरियों के एकमेव दुलार/ भिन्नता में विकस ले, वह तुम अभिन्न विचार/ बुद्धि की मेरी शलाका के अरुणतम, नग्न जलते तेज/ कर्म के चिरवेग में उर-वेग के उन्मेष/ पितृ-मन की स्नेह-सीमा का जहाँ है अन्त,/ उछ्ल-छ्ल मातृ-उर के क्षेत्रदर्शन के परे जो लोक, / पत्नी के समर्पण देश की गोधूलि-सन्ध्या के क्षितिज के पार, /जो विस्तृत बिछा है प्रान्त/ तन्मय-तिमिर छाया है जहाँ हिल-बडोल से भी दूर/ है केवल है/ अकेला व्योम ऊपर श्याम/ नीचे तिमिरशायी अचल धरती भी अकेली एक, /तरु के तले भी केवल अकेला मौन, / जिस की दीर्घ शाखाएँ बिछी निस्संग/ जैसे लटकती है एक स्मृति-पहचान / मन के तिमिरकोने में त्यजित।*[2]

मृत्यु और कवि कविता में नर की बस्ती किस दिशा में गमन कर रही है, व्यक्त किया है। नर बस्ती वन एवं अंधकार में डुबी हुई है। मानवता रूपी सरिता प्रवाहमान है, जीवन लीला को समाप्त कर मरण सेज की और बढ़ रहा है नर। कवि कहता है कि संकुचित है घरोंदा प्रकाशमय फिर भी धुंधला है। क्योंकि मनुष्य जीवन संघर्षमयी है। कवि उन्हें मृत्यु के शाश्वत सत्य से संघर्ष करने के लिए आमंत्रित करता है। व्यक्ति के माता, पिता, वधू सभी मूक हैं क्योंकि कवि हमें जाग्रत कर कहना चाहता है कि मानव जीवन क्षणभंगुर है। इस क्षणभुंगर जीवन को मुक्तिबोध संघर्ष से विजित करना चाहते हैं। कवि के शब्द-- *घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर/व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयंकर/ है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली बहराती,/ जीवन-लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई/नर/ बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुंधला /वधु मूर्च्छिता, पिता अर्ध-मृत, दुखिता माता स्पन्दन-हीना/ घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, कवि का मन गीला।/* सह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन है। क्षण-भंगुर[3]। *मुक्तिबोध ने जीवन संघर्ष को ठोस यथार्थ के रूप में अंधेरे के माध्यम से गूढ़ता से शब्द चित्र में बाँधा है।*

चाँद का मुँह टेढ़ा है के संबंध में श्रीकान्त वर्मा का अभिमत है- "किसी और कवि की कविताएँ उसका इतिहास न हों, मुक्तिबोध की कविताएँ अवश्य उनका इतिहास है। जो इन कविताओं को समझेंगे उन्हें मुक्तिबोध को किसी रूप में समझने की जरूरत नहीं पड़ेगी।"[4] काव्य-संग्रह में संघर्ष तत्त्व की ओट से आत्मचेतना का अन्वेषण किया गया है। संघर्ष तत्त्व को व्यक्त करती कविताएँ भूल गलती, ब्रह्मराक्षस, दिमागी गुहान्धकार का ओरांग उटाँग, लकड़ी का रावण, चाँद का मुँह टेढ़ा है, एक भूतपूर्व का आत्मकथन, मुझे कदम-कदम पर, मेरे सहचर मित्र, एक अंत कथा, एक अरूपशून्य के प्रति, ओ काव्यात्मक फणिधर, चकमक की चिनगारियाँ, जब प्रश्न चिन्ह बौखला ऊठे, एक स्वप्नकथा, चम्बल की घाटी में, अंधेरे में आदि हैं, जिनका लक्ष्य मनुष्य का आत्मसंघर्ष है। जिसे कवि ने फैण्टेसी के प्रयोग के माध्यम से जीवन में अनुभूत एवं भोगे संघर्ष को वास्तविक जीवन-चित्र को कल्पनाभूत करके अपने काव्य में रूपायित किया है। ऊपर लिखित कविताओं में कवि का समाज एवं राष्ट्र के प्रति चिंतन-पक्ष अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। मुक्तिबोध समाज एवं देश में व्याप्त विसंगतियों को समूल नष्ट करना चाहते थे। कहना न होगा कि वे इस धारणा से समस्त देशवासियों की चेतना को झंकृत कर चेतनरूप में परिणत करना चाहते थे। मुक्तिबोध यथार्थ-बोध के कवि थे, इन कविताओं में कल्पना के प्रतिरूप में संघर्ष-मयी जीवन को यथार्थ रूप में शब्दों के माध्यम से प्रेरित किया हैं। चाँद का मुँह टेढ़ा है में वैचारिकता, बौद्धिकता, प्रगतिशील चेतना को गूढ रूप में लक्षित किया है। ये कविताएँ मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष को, जीवन के यथार्थ रूप को, अंधकारमय स्थिति को स्पष्टतया चित्रित करती हैं। यह अंधकार मुक्तिबोध-

युग के हादसे के प्रतीक रूप में स्थापित हुआ है। मुक्तिबोध की कविताएँ अनुभव से उद्‌भूत हैं, जो यथार्थ से होकर गुजरा हो वही सार्थक काव्य का सर्जन कर पाता है।

भूल गलती मुक्तिबोध की आखिरी दौर की कविताओं में से है। यह उनकी एक उल्लेखनीय कविता है। यह 'कल्पना' के अप्रैल, 1964 के अंक में प्रकाशित हुई थी। यह कविता सामन्ती शासन व्यवस्था का भयानक या विद्रूप चित्र अंकित करती है। जनता की भूल और गलती के कारण ही क्रूर सामन्त को अपार शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जनता मूक-बधिर बन उस कुचक्र को बस निहारती है, उसका प्रतिकार नहीं करती, सामन्ती शासन, बेईमानी, भूल तथा गलतियों का सिलसिला चहुँ और व्याप्त है। कवि संघर्ष कर इस विद्रूप शासन को समाप्त करना चाहता है और कहता है-- *भूल गलती/आज बैठी है जिरह बख्तर पहनकर/तख्त पर दिल के/चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक;/आँखें चिलकती हैं नुकीले तेज पत्थर-सी;/खड़ी है सिर झुकाये/सब कतारें / बेजुबाँ बेबस सलाम में/अगिनत खम्भों व मेहराबें- थामे/दरबारे-आम में।*[6] मुक्तिबोध कह रहे हैं कि जनता की भूल और गलती के कारण ही गलत या बेईमान लोगों के हाथों में सत्ता सौंप दी गई है। उस क्रूर सामंती शासन ने जनता को ही जकड़ लिया है। जनता की निष्क्रियता और गलती के कारण ही तो वे क्रूर और शक्तिशाली बने हैं। लोकतन्त्र अथवा शासन के निर्माता ही शासन के दुराचारी व्यक्तियों के समक्ष मस्तक झुकाए विवश खड़े हैं, प्रतिकार करने को कवि उद्धत करना चाहता है।

ब्रह्मराक्षस कविता कवि की अत्यधिक प्रसिद्ध कविता है। ब्रह्मराक्षस कविता सर्वप्रथम बनारस से प्रकाशित होने वाली लघु पत्रिका कवि के अप्रैल, 1957 के अंक में प्रकाशित हुई थी। कवि ने इस कविता में अंतिम संशोधन 1962 में किया। यह कविता फैण्टेसी से युक्त प्रसिद्ध लम्बी कविता है। इसमें कवि ने प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को बड़े ही सशक्त माध्यम से 'ब्रह्मराक्षस' का रूप प्रदान करके रूपात्मक फैण्टेसी में उद्‌भूत किया है। ब्रह्मराक्षस का निवास एकान्त बावड़ी में है। बावड़ी के चारों तरफ मौन व्याप्त है। यह अत्यधिक वीरान, डरावना, एवं भयावह स्थान है। ब्रह्मराक्षस एक गणितज्ञ, एक शोधक की व्यथा-कथा है जो जीवन मूल्यों की, सत्यों की खोज में भटकाव के पथ पर गमन करता है। बार-बार बावड़ी के जल में स्नान कर अपने मैल को दूर करने का प्रयास ही अज्ञान को हराकर सत्य रूपी प्रकाश को खोजना है। उसका अंधकार से अनवरत संघर्ष चल रहा है। उसका आन्तरिक संघर्ष अत्यधिक भयावह है। सूर्योदय पर उसकी चिन्ता बढ़ती थी जो उसके घाव पर मानो दवा से युक्त पिट्टयाँ बाँधता था। शोधक अपनी खोज को लेकर अत्यधिक परेशान था, जैसे गणित की विकट समस्याओं में विकट रूप से उलझा हो। शोधक मानसिक रूप से अत्यधिक चिंतित था उसका मस्तिष्क नभ की भाँति था जिसमें चहुँ ओर तारकगण बिखरे हुए थे। वे तारकगण अनगिनत दशमलव बिन्दु थे, जिसके पसरे हुए उलझे गणित के मैदान में शोधक मरा हुआ पड़ा था। उसकी मानस की बेचैनियों और उसकी समस्त चिन्ताओं के साथ उसकी मृत्यु का बड़ा ही सुन्दर शब्दचित्र उकेर कर मुक्तिबोध कहते हैं--- *उद्विग्न भालों पर/सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए/अनगिन-दशमलव से/दशमलव-बिन्दुओं के सर्वत्र/पसरे हुए उलझे गणित मैदान में। मारा गया, वह काम आया, और वह पसरा पड़ा है। वक्ष-बाँहें खुली फैली/एक शोधक की।*[6] संघर्ष की अवस्था में शोधक को असफलता का प्रत्यक्षीकरण हुआ है। यह संघर्षी शोधक स्वयं मुक्तिबोध है। ब्रह्मराक्षस और सत्य शोधक कवि मुक्तिबोध ही है। मुक्तिबोध जीवन में संघर्षो से जूझते हुए समाप्त हुए, और पिस गए। यह भयंकर घटना ब्रह्मराक्षस की ही नहीं स्वयं मुक्तिबोध की संघर्षमयी करुण कथा है- *पिस गया वह भीतरी/औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच/ऐसी ट्रैजडी है*

नीच !/बावड़ी में वह स्वयं/पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा/वह कोठरी में किस तरह/ अपना गणित कर रहा/औ मर गया/ वह सघन झाड़ी के कंटीले/तम-विवर में/मरे पक्षी-सा/बिदा ही हो गया।[7] ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध का प्रिय चरित्र रहा है। वह हिंदी की विविध विधाओं में अपना रूप लक्षित करा रहा है। यह कविता हिंदी कविता के विकास की सोपान रही है, और अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिबोध ने जिस तरह से जीवन -यापन किया उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ब्रह्मराक्षस के प्रतिरूप में व्यक्त हुई है। इस सम्पूर्ण कविता का अध्ययन करने के पश्चात् अनुभूति होती है कि वर्तमान समय में बौद्धिकता का घोर पतन लक्षित होता रहा है। व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रभाव से कवि ने ब्रह्मराक्षस कविता को प्रभावकारी रूप में परिणत किया है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता के परिप्रेक्ष्य में आलोचक नन्दकिशोर नवल का अभिमत उल्लेखनीय है- "संघर्ष सिर्फ उनका न होकर पूरे मध्यवर्ग का है, जिसके वे एक सदस्य थे। दूसरी बात यह है कि उनके आत्मसंघर्ष के अनेक पहलू हैं। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में आत्मसंघर्ष व्यक्ति और समाज, आत्म और विश्व तथा भीतर और बाहर के बीच है।"[8]

मुक्तिबोध ने मनुष्य जीवन के संघर्ष उसकी जटिलता, दुरूहता, भयावहता, दुविधाग्रस्तता के प्रतीकात्मक चित्रों में सहज रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रत्येक व्यक्ति संघर्ष के माध्यम से ही जीवन में जीवटता को प्राप्त कर सकता है। मुक्तिबोध के संघर्ष के प्रति अशोक वाजपेयी का कथन महत्वपूर्ण है- "एक समय कविता में निराला की जो केन्द्रीयता थी वही अब मुक्तिबोध की है। अपनी सारी दुरूहता और उबड़-खाबड़पन के बावजूद मुक्तिबोध आज की कविता की उग्रता, सामाजिक चेतना, सृजनात्मक साहस और वैचारिक प्रतिश्रुति के उद्‌गम कवि हैं।"[9] मुक्तिबोध मनुष्य जीवन के संघर्ष के कवि हैं। इस काव्य-संग्रह के संबंध में अशोक वाजपेयी ने 'भूरी-भूरी खाक धूल' की भूमिका में जो कहा है वह महत्त्वपूर्ण है- "अपने समय की भयावहता का जो बेरहम और बेराहत सामना उन्होंने किया उसका साक्ष्य तो इनमें है ही, उनकी बुनियादी आत्मीयता और आन्तरिकता भी प्रकट होती है। उनके वैचारिक लगाव इन कविताओं में स्पष्टता के साथ खोजे जा सकते हैं। उनकी कल्पना की विराटता, अनुभव की सघनता, विचारसम्पदा की विपुल समृद्धि और उनके संघर्ष की निरन्तरता ऐसे तत्व हैं जो उनके काव्य प्रयत्न का अनिवार्य अंग रहे हैं।"[10] कहा जाए तो इस संग्रह की कविताएँ व्यक्ति जीवन के भयानक सच की कविताएँ हैं।

एक रंग का राग : मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में अपने युग की धड़कती धुकधुकी को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में चित्रित किया है। एक रंग के राग में धुकधुकी पूँजीपतियों, शोषकों के हृदय में धड़क रही है और सर्वहारा, शोषित वर्ग के हृदय में भी उसी तीव्रता से। कवि मुक्तिबोध को समाज में ऐसी जोरदार सनसनीखेज नयी खबर मिलती है कि जिससे उसकी ढ़ीली रगें तन जाती हैं, भीतरी तनाव बढ़ता है, विचारों का एक घाव हो जाता है, हृदय में घात पड़ती है, इनके बिना कवि के शब्दों में यह जिन्दगी भोजन और मौत के सिवा कुछ नहीं है। अतः उनकी कविता का प्रत्येक अंश अनुभव की सत्यता का प्रतीक प्रतीत होता है। कवि भलीभाँति जानता है कि, अंधा और बहारा कौन है? कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्ठा है। यह वह मानवीय चिन्ता है जिसमें उत्पीड़न भरे समाज की भयावहता को आक्रोश के रूप में व्यंग्य के साथ जीवन संघर्ष प्रतिध्वनित होता है- *समाज के जितने भी निन्दाप्रवाद हैं/ सब हमें याद हैं/ हरेक का चेहरा व जीवन-रहस्य हम जानते/अन्धा कौन बहरा कौन एक नेत्र कौन कहाँ उड़ता है/ सब हमें मालूम, / कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्ठा है/ सब हमें मालूम, चाहो तो समाजी/ शोषण क्रिया की सब/ पाचन क्रिया की सब-अंतड़ियाँ/ टेबल पर रख दें/ कि तुम भी निहार लो/ हम भी निरख लें।*[11] समाज में कुछ लोग शोषकों का साथ देकर सामान्यजनता को पीड़ा पहुँचाते हैं। मुक्तिबोध ने सूक्ष्म एवं यथार्थ निरीक्षण किया है और

उन्हें ज्ञात हो गया है कि कौन उल्लू के पट्ठे हैं।

इसी बैलगाड़ी को कविता में कवि ने एक देहाती किसान की बैलगाड़ी, जो ढचर-ढचर चल रही है को सम्पूर्ण शोषकपरक अमानवीय व्यवस्था के सामने ला खड़ा किया है। यह कविता प्रतीकात्मक है, जिसके अन्तर्गत ग्रामीण संस्कृति की प्रतीक 'बैलगाड़ी' दृढ़ता से दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः कवि ने बैलगाड़ी शब्द का प्रयोग यथार्थ सामान्य जन-जीवन के संदर्भ में किया है। जीवन शहरों एवं गाँवों में एक ही तरह से सक्रिय होता है अन्तर इस बात में है कि वहाँ की आबो-हवा का रुख किधर है- *शहराती गलियों के घुप्प अंधेरे में/ उदास उजाला है/ बिजली की लटकती गर्दन का/बिजली के खम्भे के पास की गटर में/पहिया एक धँस गया/खम्भे से टकरायी व फँस गयी /बैलगाड़ी तुम्हारी/ हो हल्ला है गली में/परेशान तुम, बहुत धकापेल बाद भी/गाड़ी नहीं निकलती।*[12]

कवि ने किसान की बैलगाड़ी का चित्रण कर उसके जीवन की लड़ाइयों को जीवन की संघर्षधारा से जोड़ा है। उसके जीवन-मरण का ज्वलन्त प्रश्न इस संघर्ष से संबद्ध है, क्योंकि ताजी कटी फसलों को बचाने के लिए उसे डाकुओं से लड़ना पड़ता है। इन डाकुओं के अनेक रूप हैं जमीदार, साहूकार, बनिया व्यापारी, लेखपाल, मुखिया और पुलिस। फिर भी शहरी किसान को जड़ समझता है। मुक्तिबोध यहाँ ग्रामीण और शहरी दोनों को एक साथ खड़े करके तौलने हेतु पाठक को विवश कर देते हैं कि सच में जड़ और ठस कौन है? किसमें अधिक संचेतना और गतिशीलता विद्यमान है? कुछ व्यक्ति ग्रामीण किसान को गलत, उसका चलना गलत, अस्तित्व गलत मानते हैं। इन पूँजीवादी वर्ग के व्यक्तियों को कवि दृढ़ता से फटकारते हुए कहता है- *गलत कारण गलत सूत्र/गलत 'स्रोत प्रस्तुत करते हुए/सिद्ध करना चाहते हो/कि हम बिल्कुल गलत हैं/ हमारा चलना गलत/गलत अस्तित्व ही !!/ हम साफ कह दें कि/असल में यह है कि नागवार/ गुजरता है तुमको कि हम लोग/निरन्तर युद्धमान/जीवन के शास्त्र और शस्त्र हैं/ ऐतिहासिक दृष्टि है, अस्त्र हैं/क्योंकि हम/ देखते हैं अनिवार्य/मृत्यु उस सभ्यता की/ जिसका तुम जाने-अनजाने नित/करते हो समर्थन !!/ इसीलिए तुम हमें/सबसे बड़े शत्रु समझते हो!!/ क्षमा करो, तुम मेरे बन्धु और मित्र हो/ इसीलिए सबसे अधिक दुःखदायी/ भयानक शत्रु हो।*[13] मुक्तिबोध एक तरह स्पष्टतः सर्वहारा वर्ग को फटकार रहे हैं, उसमें उनका आक्रोश स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

ओ अप्रस्तुत श्रोता- कवि अप्रस्तुत श्रोता के माध्यम से एक व्यक्ति जो अँधेरे कारखाने में जीवन की संघर्षमयी धारा को पकड़े रहता है, उस धुकधुकी को वह व्यक्त करता है। खुद उस संघर्ष धारा में आत्महत्या करता है, किन्तु कवि कहता है कि जो संघर्षमयी व्यक्ति है वह मरता नहीं। वरन् संघर्ष की आग में तपकर पुनर्जन्म पाता है और नवीन कर्म और संघर्ष को प्राप्त करने का प्रयास करता है। जिसमें वह पेट, धड़, सींग, पूँछ और पंख पाता है, जिन से वह इस संसार में मानव जीवन की संघर्षगाथा फिर से प्रारम्भ करता है। कवि कहता है, हां अंधेर-*कारखाना यह/ जिसकी लालधड़क बेताब धमनभट्टी में झोंक, खुद ही को रोज/आत्महत्या करता है व्यक्ति/किन्तु वह मरता नहीं/ वरन वह पुनर्जन्म पा/ विकसित करता नया एकदम नया/ पेट, धड़, सींग, पूँछ और पंख/और फिर उड़ता फिरता चलता फिरता/खूब बोलता फिरता।*[14]

पुनर्जन्म पाकर वह फिर से उड़ता फिरता है और खूब बोलता, संघर्ष को आत्मसात करता जीवन व्यतीत करता है। कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं- इस कविता में मुक्तिबोध व्यक्तियों को और समाज को पुकारकर सचेत कर रहे हैं। वहां एक अंधियारा है, बियाबान जंगल है और उस जंगल में घोर स्वार्थ का भीमकाय बरगद खड़ा है। वह छूट नहीं रहा है, व्यक्ति संघर्ष कर रहा है। बरगद पत्तोंरूपी घनीभूत संघर्ष की छाया घेरे हुए है। कवि कहते हैं वहाँ कोई पिशाच मरी हुई आत्मा का खड़ा है। घुग्घू, सियार, और स्वार्थों का

भीमकाय बरगद खड़ा है, व्यक्ति को अपने हृदय से भीमकाय बरगद नष्ट करना होगा। साथ ही संघर्ष की धार से व्यक्ति के जीवन में पूनों की चाँदनी शिवं रूप में विद्यमान है। कवि कहता है- *मैं पुकारकर कहता हूँ/सुनो, सुनने वालो। पशुओं के राज्य में जो बियाबान जंगल/उसमें खड़ा है घोर स्वार्थ का प्रभीमकाय/बरगद एक विकराल/ उसके विद्रुप शत/ शाखा-व्यूहों-निहित/पत्तों के घनीभूत जाले हैं, जाले हैं।/ तने में अंधेरा है, अंधेरा है घनघोर/वृक्ष के तने से चिपट/बैठा है, खड़ा है कोई/पिशाच एक जबरदस्त मरी हुई आत्मा का/वह तो रखवाला है/ घग्घू के, सियारों के, स्वार्थों का/और उस जंगल में, बरगद के महाभीम/भयानक शरीर पर लिखी है, फैली है पूनों की चाँदनी/ सफलता की भद्रता की / श्रेय-प्रेय-सत्यं-शिवं-संस्कृति की/खिलखिलाती पूनों की चाँदनी।*[15]

मुक्तिबोध संघर्ष को अंधकार में भी अपने हृदय में जगाए रखते हैं और वह शिव, संस्कृति रूप में विद्यमान रहता है। मुक्तिबोध के काव्य में आत्मरूप अर्थात् भीतरी एवं बाहरी आत्मसंघर्ष व्यक्त हुआ है, कवि का आत्मसंघर्ष 'भीतरी एवं बाहरी संघर्ष का काव्य' लेख में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है- "मुझे लगता है मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अंधेरा है। अंधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हैं। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ। 'मैं' का यह रहस्यमय लोक मुक्तिबोध की कविताओं में बार-बार आता है।"[16] कवि सामाजिक चेतना को धारण करने के पश्चात ही काव्य-सृजन की ओर प्रवृत्त होता है उस चेतना को मुक्तिबोध में अनुभूत कर राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है वो तथ्य यहाँ प्रासंगिक है- "मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना का मूलाधार है- उनकी मानवीयता, मानवीयता का स्रोत है- जन संबद्धता।"[17] मुक्तिबोध एक जन चेतनवादी कवि एवं सर्वसाधारण के कवि थे जिंहोने केवल और केवल जन-समान्य के आत्मसंघर्ष और स्वयं के आत्मसंघर्ष को स्वानुभूत कर काव्य रूप में प्रस्तुत किया। मुक्तिबोध के काव्य में जीवटता देखने योग्य है और उनके काव्य के पठन से हृदय में एक दृढ़ता समा जाती है।

मुक्तिबोध का केन्द्रीय विषय व्यक्ति के मन का अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व की जो छाया व्यक्ति के जागरूक मन में प्रतिबिम्बित करना रहा है। उन्होंने व्यक्ति के संघर्ष का मार्मिक चित्रण किया है, और वे आत्मविश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक संघर्ष को समझना चाहते थे। उनके समस्त काव्य में आत्मसंघर्ष से छिटकी हुई अग्निशलाका के चित्र हैं।

संदर्भ

1. श्याम सुंदर मिश्र, अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य, पृ. 168, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1987। **2.** सं. अज्ञेय, तार सप्तक, सं., पृ. 25-26, नई दिल्ली, 1995। **3.** वही, पृ. 32। **4.** मुक्तिबोध, नए साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र, पृ. 110, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 । **5.** मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 1, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, दसवां संस्करण, 1993। **6.** वही, पृ. 13। **7.** वही, पृ. 15। **8.** नन्द किशोर नवल, मुक्तिबोध की कविताएँ : बिम्ब-प्रतिबिम्ब, पृ. 110, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2011। **9.** मुक्तिबोध, भूरी-भूरी खाक धूल, पृ. 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्कारण, 1981। **10.** वही, पृ.1। **11.** वही, पृ. 9-10। **12.** वही, पृ. 24। **13.** वही, पृष्ठ 33-34। **14.** वही, पृ. 47-48 । **15.** वही, पृ. 137। **16.** विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिंदी कविता, पृ. सं. 81, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010। पृ. **17.** तार सप्तक के कवियों की समाज चेतना, पृ. सं. 370, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987।

रेलवे स्टेशन, जे.के. रोड़,
लक्ष्मीपत सिंघानिया विद्यालय के पास,
कांकरोली, राजसमंद- 313342
मो. 09983468329
ई-मेल : Khatikrajkumar26@gmail.com

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में प्रभा खेतान की काव्य-चेतना

कुमारी अनुपम

हिन्दी साहित्येतिहास के भक्ति युग में नारी मात्र, 'महाठगनि' और भक्ति विषयक प्रसंगों को छोड़कर उसे पुरुष के पतन के कारणों में से एक मानी जाती थी। पौराणिक साहित्य में भी नारी को भोग की वस्तु के रूप में अधिक से अधिक प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी साहित्यि के इतिहास में रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में नारी के भोग्या रूप का ही दर्शन हमें प्राप्त होता है। मतिराम, बिहारी, रसलीन, प्रतापसिंह आदि कवियों की कविताओं से नारी की सामाजिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इस काल की कविता में पुरुष की कामुक दष्टि से नारी के सौन्दर्य का चित्रण मिलता है -

कुन्दन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई। आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई। को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकान मिठाई। ज्यों-ज्यों निहारिये तेरे द्वै नैनन त्यों-त्यों खरी निकसै सु निकाई।।[1] *(मतिराम)*। इन कवियों ने कहीं नारी की आँखों का तो कहीं उसके अज्ञात यौवन की सहजता और भोलेपन का चित्रण किया है-- *चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन। मानहुँ सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन।।*[2] *(बिहारी)। अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार। जियत-मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवति एक बार।*[3] *(रसलीन) या- सीख सिखाई न मानति है बरहू बस संग सखीन के आवै।। खेलत खेल नए जल में बिन काम वृथा कत जाम बितावै। छोड़ के साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवाद दिखावै। कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावै।*[4] *(प्रताप सिंह)*। इन कवियों की नारी विषयक रुचि के संदर्भ में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-- "शृंगारकालीन काव्य में नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बंधन से यथासंभव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है।"[5]

नारी के प्रति छायावादी कवियों की दृष्टि सर्वथा नवीन और प्रगतिशील है। रीतिकालीन साहित्य में जहाँ नारी भोग की वस्तु मानी जाती थी, वहीं छायावादी काव्य में वह 'जननि सखी प्यारी' 'देवी माँ सहचरि प्राण' और पुरुष की प्रेरणा बन गई। नारी के प्रति इस बदली हुई दृष्टि के पीछे 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में चलाए गए अनेक

सामाजिक सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही जिसके परिणामस्वरूप स्त्री-शिक्षा, स्त्री-जागरण, नारी-मुक्ति आदि की भावना तेज हुई थी। यहाँ नारी सौंदर्य का पुंज भी है और प्रेरणा-पुंज भी। प्रसाद की 'कामायनी' की श्रद्धा, निराला के 'तुलसीदास' की रत्नावली ऐसी ही नारियाँ हैं। छायावाद में नारी के विविध रूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-- *तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान, तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों में गान।।*[6] *नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में। पीयूष स्त्रोत सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में।।*[7] *वह तोड़ती पत्थर देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।।*[8]

प्रसाद की 'कामायनी' में प्रलय के पश्चात् मनु जब जीवन से निराश भयभीत और हताश था उस समय श्रद्धा उसे मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास तथा सृष्टि के पुनर्निर्माण के लिए प्रोत्साहित करती है। श्रद्धा, मनु को कर्म के लिए प्रेरित करती है। अपने समर्पण व सहयोग से संसार का अस्तित्व बनाए रखने में उसका साथ देने वाली कोई और नहीं एक स्त्री थी। *कहा आंगतुक ने सस्नेह- "अरे तुम इतने हुए अधीर हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर जिसको वीर।।"*[9]

सृष्टि को सुचारु रूप से परिचालित करने व निरंतरता को बनाए रखना नारी के बिना असंभव है। फिर भी क्यों स्त्री का जीवन हाशिए पर है। उसे मनुष्यता का दर्जा भी नहीं प्राप्त है। परिवार और समाज का आधार स्तम्भ नारी है। प्रकृति ने उसे सृजन शक्ति प्रदान की है। इसके बावजूद परंपरा से उसे प्रताड़ित शोषित किया जाता है। पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के पूरक हैं। किसी एक के बिना दूसरे का अस्तित्व अधूरा अपूर्ण है। दोनों के संतुलन से ही परिवार, समाज और अखंड विश्व की संरचना की जा सकती है। अतः यह धारणा नितान्त गलत है कि स्त्री असहाय कमजोर है या तार्किक व बौद्धिक क्षमता की उसमें कोई कमी है। सृष्टि के प्रारंभ से ही वह पुरुष की सहचरी रही है तथा प्रत्येक क्षेत्र में अपना सहयोग देती रही है। 'स्त्री-विमर्श', 'स्त्री आन्दोलन' वह नारी केंद्रित चिन्तन है, जो स्त्री को उसकी पहचान देने, सम्मान देने, उसे सशक्त स्वाभिमानी और आत्मनिर्भर बनाने, सही अर्थों में इन सबसे आगे बढ़कर उसे इंसान बनाने के लिए प्रयत्नशील है। स्त्री विमर्श ने स्त्रियों की दबी कुचली इच्छाओं, आकांक्षाओं और दमित कामनाओं को व्यक्त करने तथा उनके उड़ान भरने के लिए मुक्त आकाश दिया है। लेकिन इस उड़ान में अनेक तरह के खतरे भी हैं, आरोप भी हैं, लेकिन अनन्त सम्भावनाएँ हैं।नारीवादी चिंतक प्रभा खेतान का कहना है-- "नारीवाद पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है। प्राचीन काल से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आए हैं, जहाँ स्त्री ज्ञाता नहीं, बल्कि ज्ञान की विषय वस्तु है। हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है। इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केन्द्र में अधिष्ठित किया। इसके विपरीत नारीवादी सिद्धांत स्त्री-केन्द्रित ज्ञान की चर्चा करता है।"[10]

18वीं सदी के अंतिम दिनों तथा 19वीं सदी में यूरोप में मेरी वालस्टान क्राप्ट, काल्पनिक समाज वादियों, विलियम चाम्पसन, जेम्स मिल से लेकर सेनेकाफाल कन्वेशन तथा जानस्टुअर्ट मिल तक प्रारंभिक नारीवादियों ने नारियों के जनतांत्रिक अधिकारों की जो माँग उठाई थी, 19वीं सदी के अंत तक उनमें से अधिकांश माँगों को ब्रिटेन तथा अमरीका में कानूनी तौर पर मान लिया गया था। यद्यपि वास्तविक समानता का अधिकार अभी बहुत दूर की चीज थी, लेकिन महिलाओं में शिक्षा का विस्तार हुआ, ऑफिस-अदालतों में महिलाएं काम करने लगीं। इससे वालस्टानक्राप्ट की तरह के जो नारीवादी शिक्षा पर पुरुषों के एकाधिकार को समाप्त करने की जो माँग उठा रहे थे, वह माँग निश्चित तौर पर पूरी हुई और जब इस बात को सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार लिया गया कि महिलाएँ भी बौद्धिक रूप से

उतनी ही समर्थ हैं जितने की पुरुष, तथा उन्हें भी हर स्तर की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तो जाहिर तौर पर इससे आगे की वह जमीन तैयार हुई जिस पर खड़े होकर महिलाओं को समान कानूनी और राजनीतिक अधिकार देने की मांग की जा सकती थी।

19वीं सदी के अंत तक स्थिति यह बन गई थी कि महिलाएँ अब सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक बहसों से बाहर नहीं रह गई थीं। 19वीं सदी के अंत तक, विभिन्न विषयों पर ऐसे कानून पारित किए गए जिनमें मुख्यतः महिलाओं से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया था। बेलरी ब्रायसन ने अपनी पुस्तक 'Feminist political theory, An intoduction' में लिखा, 'नारीवाद की चिप्पी लगाकर सामने आने वाले किसी भी आंदोलन व्यक्ति या विचार को स्वतः स्फूर्त रूप में 'प्रगितशील' मान लेना कितना खतरनाक है। ऐतिहासिक तौर पर नारीवाद अक्सर मानवतावादी, उदारतावादी या समाजवादी विचारों से जुड़ा रहा है, लेकिन इसके कुछ रूप ऐसे भी रहे हैं जिनमें दक्षिणपंथी दिशा की ओर जाने का खतरा रहता है।"[1] दो-तीन दशकों के बीतने के साथ ही क्रमशः नये सामाजिक यथार्थ की गहराई से जांच की जाने लगी और कानून तथा सिद्धांत के स्तर पर घोषित समानता के लक्ष्यों के विपरीत व्यवहार के स्तर पर सामाजिक जीवन में महिलाओं के प्रति जो भेदभाव बरकरार है उस पर ध्यान दिया जाने लगा। राजनीति में महिलाओं की भागीदारी को स्वीकारने के बावजूद क्यों अब भी राजनीतिक जीवन में महिलाओं का प्रतिनिधित्व पुरुषों से काफी कम है? क्यों तमाम प्रकार के रोजगारों और पेशों में महिलाओं की संख्या पुरुषों के बराबर नहीं है? क्यों अब भी समान काम के लिए समान वेतन के सिद्धांत को सख्ती के साथ लागू नहीं किया जाता? क्यों महिलाओं के साथ भेदभाव बरता जाता है? क्यों परिवार का खर्च उठाने के बावजूद घरेलू कामों का अधिकांश बोझ महिलाओं पर ही पड़ता है? क्यों महिलाओं को हमेशा सामूहिक हिंसा का शिकार बनना पड़ता है? आदि तमाम प्रश्नों ने सर उठाना शुरू कर दिया और फिर एक बार नए विद्रोही तेवर के साथ नारीवाद का उभार दिखाई देने लगा जो 'नवजागरण, ज्ञान' प्रसार से लेकर 19वीं और 20वीं सदी के प्रथमार्द्ध तक की सारी उपलब्धियों पर प्रश्न चिह्न लगाने लगा।

इस संदर्भ में यहाँ विशेष रूप से फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार की पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' पर विचार किया जाना चाहिए। सिमोन द बोउवार आधुनिक नारीवादी आंदोलन का एक सबसे अधिक परिचित नाम है। केवल अपनी पुस्तक की वजह से ही नहीं, बल्कि अपनी पूरी जिन्दगी स्त्री स्वातंत्र्य के प्रति समर्पित रहने और जीवन के नैतिक मूल्यबोध की वजह से भी तथा अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र के साथ अपने संबंधों की क़हानियों से वे स्त्री-पुरुष संबंधों के क्षेत्र में जैसे एक किंवदंती बन गई हैं। बोउवार ने लिखा कि "एक नारी होने के नाते व्यक्तिगत रूप से उन्हें कभी कोई कठिनाई नहीं आई, उल्टे 20 वर्ष की उम्र से ही दोनों लिंगों के लाभ मिले। एक पुरातनवादी परिवार में जन्म लेने के बावजूद अपनी शैक्षणिक सफलता के बल पर ही उन्होंने घरेलू जीवन तथा आमतौर पर स्वीकृत महिलाओं के जीवन को कभी नहीं अपनाया। सार्त्र के साथ जुड़ी रहीं, लेकिन कभी उनसे न शादी की और न घर बसाया। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन होटलों में बिताया और कहते हैं कि फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों की पुरुष-प्रधान दुनिया में बोउवार ने भी एक पुरुष की भाँति जिन्दगी जी थी। वे जब 40 वर्ष की थीं, तभी सार्त्र ने उन्हें आत्मजीवनी लिखने का सुझाव दिया। इसी उद्देश्य से खुद को जानने के लिए यह जरूरी समझा कि पहले यह जानू कि औरत क्या होती है। इसी क्रम में बोउवार ने औरतों से संबंद्ध साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि पुस्तकों का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि कई अन्य औरतों के साक्षात्कार लिए और उन्हें जानने समझने की

कोशिश की। इस पूरे उपक्रम का ही परिणाम था उनकी पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' जिसका हिन्दी में अनुवाद नारीवादी चिंतक प्रभा खेतान ने 'स्त्री उपेक्षिता' शीर्षक से किया है। अपने पूरे अध्ययन के बीच से बोउवार ने यह दिखाया कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनायी जाती है।"[13] बोउवार की इस पुस्तक पर सार्त्र के अस्तित्ववादी विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। सीमोन ने अन्य तमाम चीजों के बावजूद स्त्री के अपने शरीर को ही उसकी गुलामी का मुख्य कारण घोषित किया।

सीमोन ने उस आधुनिक नारीवादी विचारधारा की आधारशिला रखी जिसमें नारी मुक्ति की अनिवार्य शर्त के रूप में नारी को अपने नारीपन से मुक्त होना बताया गया। मातृत्व, एक नारी के लिए सुखदायी भी हो सकता है, इस बात को स्वीकारने से उन्होंने पूरी तौर पर इंकार किया तथा स्त्री के मासिक धर्म, गर्भावस्था, प्रजनन और दुग्धपान की तरह की प्रक्रियाओं पर गहरी जुगुप्सा व्यक्त की। इन सबको स्त्री-काया द्वारा स्त्रियों के लिए तैयार किए गए जंजाल की तरह बताया। हालांकि वे इस मत की नहीं थीं कि 'स्त्री की योनि उसे हमेशा घुटनों के बल रहने पर मजबूर करती है।"[14] लेकिन यह जरूर मानती थीं कि अपनी शारीरिक सीमाओं से उबरकर ही औरत एक पूर्ण मनुष्य बन सकती है। इससे एक तर्क यह भी पैदा होता है कि स्त्री अपने अस्तित्व को गंवा कर ही मनुष्यता हासिल कर सकेगी। बाद के दिनों में सीमोन ने अपने एक साक्षात्कार में यह स्वीकारा था कि "यह अच्छी बात है कि अब महिलाएं अपनी काया को लेकर किसी भी प्रकार की शर्मिन्दगी महसूस नहीं करतीं। लेकिन फिर भी उन्होंने स्त्रीकाया में किसी भी प्रकार की विशेषता को स्वीकारने से साफ इंकार किया।"[6] स्कवार्जर की यह टिप्पणी बहुत सही जान पड़ती है कि "यह पुस्तक कुछ महिलाओं के व्यक्तिगत इतिहास का अंग है तथा नारीवाद के इतिहास का हिस्सा है।"[7]

60 के दशक में एक बिस्फोट की तरह दुनिया में जिस नए नारीवाद ने जन्म लिया उसकी एक महत्वपूर्ण कृति है अमरीकी लेखिका बेट्टी फ्रीडेन। अपनी पुस्तक 'The Feminine Mystiqui' में फ्रीडेन ने कहा था कि नारी जीवन का उद्देश्य सिर्फ अपने नारीत्व की आकांक्षाओं को पूरा करना, इस प्रकार का विचार पुराने परम्परागत मूल्यों की तुलना में कहीं ज्यादा खतरनाक और विनाशकारी है, सारी नारी पत्रिकाएं और समूचा विज्ञापन उद्योग इस भ्रम को फैलाने में लगे हैं कि नारी जीवन का उद्देश्य किसी भी प्रकार से एक पति को प्राप्त करना तथा उसकी और उसके बच्चों की जरूरतों को पूरा करना मात्र है, नारी की अपनी मानवीय अस्मिता का कोई मूल्य नहीं है और अपने घर के बाहर की जिन्दगी उसकी कुछ नहीं है। फ्रीडेन ने यह कहा कि इस प्रकार की जिंदगी कभी भी सुखदायी नहीं हो सकती। उपभोक्ता सामग्रियों का ढेर भी इस तरह की जिंदगी से पैदा होनेवाले अंदरूनी खोखलेपन को भर नहीं सकता। अधिक से अधिक इसका परिणाम नारी को निश्चेष्ट करने तथा घनघोर निराशा की ओर ले जाने में होता है। फ्रीडेन ने कहा कि "यदि हम इसी प्रकार, लाखों युवा माताओं को पैदा करते रहे, जिन्होंने अपना विकास तथा अपनी पहचान बनाने के पहले ही अपनी शिक्षा को बंद कर दिया है और जिसके पास अपने बच्चों को देने के लिए मानवीय मूल्यबोध या कोई ठोस संदेश नहीं है तो सीधे अर्थों में हम एक जनहत्या का अपराध कर रहे हैं, जिसका प्रारंभ अमरीकी महिलाओं के सामूहिक दफन से हो रहा है तथा जिसका अन्त उनके बेटे-बेटियों के अधिक से अधिक अमानवीयकरण में होगा।"[8]

फ्रीडेन में परम्परागत नैतिकता का एक गहरा बोध था। तथापि उन्होंने अपनी पुस्तक के माध्यम से अमरीकी महिलाओं के बारे में बुने जा रहे। रहस्य को तोड़ा तथा फ्रांसीसी नारीवादी लेखिका सीमोन की तरह ही नारियों के समक्ष घर की चारदीवारी के बाहर उसकी स्वतंत्रता तथा उसकी उपलब्धियों की अपार

संभावनाओं पर प्रकाश डालने का महत्वपूर्ण कार्य तो किया था, लेकिन फिर भी उन्होंने परम्परागत नैतिकता और पारिवारिक जीवन को ठुकराने की तरह का कोई मत जाहिर नहीं किया था। बेलरी ब्रायसन ने अपनी पुस्तक (फेमिनिस्ट पोलीटिकल थ्योरी) में सीमोन की पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' और फ्रीडेन की पुस्तक 'दे फेमिनिन मिस्टीक' पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- "50 के दशक में सीमोन की पुस्तक जहाँ एक पूरी तरह से चौंका देने वाली किताब थी, वहीं फेमिनिन मिस्टीक ने उन विचारों को आकार प्रदान किया जो पहले से ही फिजा में मौजूद थे।"[9] वर्तमान युग में पूरे विश्व में आज की शिक्षित और जागरूक स्त्री अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए लड़ और लिख रही है। उसकी अभिव्यक्ति साहित्य की हर विधा में दिखायी पड़ रही है। डा. प्रभा खेतान ने लिखा है- "समकालीन स्त्री-चिन्तन का विषय है स्त्री, उसका जीवन और जीवन की समस्याएँ। नारीवाद का सही उद्देश्य दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति ही है।"[10] समकालीन सशक्त लेखिका प्रभा खेतान ने अपने लेखन में नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। उन्होंने अपने कथा-लेखन के अलावा अपनी काव्यकृतियों के माध्यम से भी समाज में नारी की स्थिति और विभिन्न रूपों में उसकी भूमिकाओं को अभिव्यक्त किया है, जैसे अपने प्रेम को लेकर लिखी गई ये पंक्तियाँ-

"तुम जानते हो। मैंने तुम्हें प्यार किया। साहस और निडरता से। मैं उन सबके सामने खड़ी हूँ। जिनकी आँखें हमारे संबंधों पर प्रश्नवाचक। मक्खियों की तरह मँडराती हैं।"[11]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतएव उसका व्यक्तिगत जीवन व्यक्तिगत रह नहीं पाता है। समाज उसके जीवन को अपने निकष पर आंकता रहता है। नारी जीवन के इसी यथार्थ को प्रभाजी ने व्यक्त किया है। ऐसे संबंधों को समाज आशंका की दृष्टि से देखता है। अतः कवयित्री कहती है कि मैं उन सभी लोगों की घृणा से टकरायी हूँ, समाज अपनी व्यवस्था में अत्यंत निर्मम होता है। उसके पास संबंधों के चौखटे होते हैं, कुछ विशिष्ट मापदंड होते हैं जिनके बाहर किसी स्त्री का आचरण चरित्रहीनता की संज्ञा प्राप्त करता है। ऐसे पूर्वाग्रह से दूषित समाज में प्रेम करना कितना मुश्किल है - *"यों प्यार करना कितना मुश्किल होता है। अंधेरे रेगिस्तान में। गुलाब। झुलसने के लिए बस छोड़ दिए जाते हैं"*[12]। कवयित्री प्रेम को उदात्त मानती हैं। अतः जो लोग किसी के प्रेम को देखकर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं उनके प्रति उनके मन में आक्रोश है- *"वह प्यार। जो उजाले में पहचानने से डरता है। मुझे उससे घृणा है, मैं उन तमाम लोगों से भी घृणा करती हूँ। जो प्यार को साँचों में बदल देना चाहते हैं"*[13]।

लेखिका का मन उस दुल्हन के प्रति संवेदनशील है, जिसका भयानक रूप से शोषण किया जाता है और यह शोषण उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त होता है- *"बगल के फ्लैट वाली दुल्हन। मर गई छिड़क कर। अपने ही ऊपर किरासन तेल। लोग कहते सास ने जला दिया। लोग कहते कि निकम्मा था। उसका मरद।"*[14]

परिवार में माँ की अहम भूमिका होती है। वह सभी के प्रति निःस्वार्थ भाव से समर्पित होती है। परिवार के सदस्यों के प्रति चिंता उसका स्थायी भाव होता है। वह भविष्य के स्वप्न के आनंद प्राप्त करती है परन्तु उसके लिए उसका अपना भविष्य अंधकारमय हो जाता है। क्योंकि उसकी संतान पतंग के समान उससे कट जाती है। इसी सच्चाई को कवयित्री इन शब्दों में व्यक्त करती है- *"अधूरे सपने को। मत देखो बार-बार। उन बच्चों की मत करो बात। जो आखिर पतंग से कट गए। तुम्हारी जिंदगी से।"*[15]

माँ की वत्सलता शब्दातीत है। उसकी चिंता केवल अपनी संतान के सुख-दुःख की होती है। बेटा जब शाम को घर लौटती है तब आंगन में बैठी हुई माँ बड़ी आत्मीयता से पूछती है- *"कैसे हो बेटा? माँ! यह कैसा चमत्कार है कि। कहीं भी जाऊँ। लौट आता हूं*

तुम्हारे पास। तुम्हारी परसी हुई थाली से। मेरी भूख मिटती है।"[16]

निश्चित ही माँ के द्वारा परोसी गई रोटी केवल क्षुधा शांत नहीं करती बल्कि तृप्ति प्रदान करती है। पंडित विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है-- "मेघा के बरसे और माता के परसे" से ही तृप्ति मिलती है। माँ परसती है तो बेटे के आस्वाद में अपने आस्वाद को इतना मिला चुकी होती है कि वह अन्न नहीं परसती अपने मन का पूरा आस्वाद परसती है।[17]

लेकिन 'हुस्नाबानो' नामक कविता में वृद्ध माँ की व्यथा को व्यक्त करते हुए प्रभा जी लिखती हैं कि कलकत्ता के ताल-तल्ला बाजार लेन में रहने वाली एक वृद्धा राम-नाम की माला जप रही है। उसे अब यह उम्मीद नहीं है कि उसका पुत्र उसके पास लौट आएगा। वह अपनी कांपती हथेलियों से चश्मा उतारती हुई अपनी हवेलियों की भाग्य रेखाओं को मलमल कर धोती है। वह जानती है कि नियति ने उसे अकेले रहने को विवश किया है। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि नारी का जीवन रसोईघर तक ही सीमित है - *"ना कुछ नहीं होता। राम नाम रटने से। क्या मतलब है। माला के जपने का। एक-एक मनके में। वही-वही जीवन। औरत का। चौका-चूल्हा। रोटी पानी"*[18]।

प्रभाजी ने नारी की महानता त्याग एवं उदात्तता का बखान कई प्रसंगों में किया है। माँ के रूप में वह पूजयनीय है। वह वत्सलता की मूर्ति है। उसमें किसी जीव को जन्म देने की ऊर्जा है। करुणा एवं सहनशीलता के गुणों से मंडित माँ का रूप द्रष्टव्य है- *"अन्तहीन तुम्हारी करुणा। वत्सल तुम। जननी! शाश्वत प्रसविनी। गर्भ के भ्रूण का यों। पथरा जाना। कैसे सहा तुमने।"*[19]

पुरुष अपना वर्चस्व प्रतिस्थापित करना चाहता है। इसलिए उसके लिए नारी वस्तु के समान है। नारी की इसी उपेक्षा को दृष्टि में रखते हुए कवयित्री उसकी व्यथा को व्यक्त करती है। *"तुम चाहते हो। मैं तुम्हारे गमले का फूल बनूँ। उगूँ तुम्हारे बरौनियों के सूरज को देख। तुम चाहते हो। मैं बनूँ तुम्हारे ड्राईंग-रूम का कालीन। पर्दे, सोफा। या बैड कवर। फैली रहूँ बिस्तर पर....*"[20] भारतीय नारी अपने परिवार के प्रति कर्तव्य का निर्वाह करती है। अतः वह घर के दैनिक कार्यों में इतनी व्यस्त रहती है कि प्रकृति का आनंद भी नहीं उठा सकती है। अतः वह यही निवेदन करती है कि- *"मुझे तो घर का बहुत काम है। कपड़े सुखाने है। मेरे चूल्हे की लकड़ियाँ गीली हैं। बच्चा सर्दी से खाँसता है। तुम्हारे साथ-साथ। कैसे बनूँ पाखी। या मेघ मल्हार गाऊँ।"*[21]

मध्यवर्ग की स्त्री अपनी गृहस्थी के छोटे-बड़े कार्यों में आनन्दानुभूति प्राप्त करती है। सुबह उठकर चूल्हा सुलगाना, रोटियाँ पकाना और उन्हें पति के टीफिन बॉक्स में सहेजकर रखना उसके लिए एक खुशनुमा दिन की शुरुआत होती है। पति के प्रति समर्पण ही उसका आनंद है। नारी केवल घर के कार्यों में ही व्यस्त नहीं होती अपितु कामकाजी स्त्री ऑफिस की फाइलों में भी कार्यमग्न होती है, उसके पास चिड़िया की मनभाव चहचहाट सुनने का समय नहीं होता। कामकाजी महिला का विवश वक्तव्य द्रष्टव्य है- *"मैं मुँह घुमाकर, फाइलों में डूब जाती हूँ, मुझे करने हैं बहुत से काम, लेकिन चिड़ियाँ चुप नहीं होती, तेज धूप में उसकी आँखें कातर हैं, सूरज आधा रास्ता तय कर चुका है, चिड़ियाँ चुप नहीं होती"*[22]।

जीवन में नारी की यह विवशता है कि उसके एकरसता भरे जीवन में कोई आनंद नहीं है। बीस वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करना और तत्पश्चात गृहकार्य एवं नौकरी करते हुए जीवन गुजारना, यही उसकी त्रासदी है--- *"घर से जाते हुए स्कूल। स्कूल से घर वह बीस साल की हो गई। फिर, उसने एक नौकरी कर ली। घर से ऑफिस। सुबह नौ बजे जाती हुई। शाम छः बजे लौटती हुई। वह चालीस की हो गई।"*[23] आधुनिक युग में नारी की जो स्थिति है उसका यथार्थांकन 'नियति' नामक कविता में हुआ है। आज

वह विज्ञापन की एक महज वस्तु बनकर रह गयी है। उसका अंग प्रदर्शन एवं मादक अदाएँ विज्ञापन के लिए आवश्यक हैं। लेखिका इस सच्चाई को उजागर करती है कि वर्तमान में उसकी जिन्दगी नियोन लाइट में जगमगाते हुए विज्ञापन के समान हो गई है। उसकी दयनीय स्थिति यह है कि--*"इतिहास और परंपरा से मुक्त। बिलकुल ताजा। नई-नई रेशमी साड़ी पहन। वह टँग गयी। आधुनिकता के हैंगर पर"*[24]।

परम्परित समाज में नारी की महानता एवं उदात्तता उसके समर्पण भाव से ही परिलक्षित होती है। वह भावनाशील है, दूसरी ओर पुरुष अपना वर्चस्व स्थापित करता हुआ उसे दासी और भोग्या के रूप में देखता है। नारी जीवन की इस त्रासद स्थिति को कवयित्री ने अभिव्यक्त किया है-*"मैने अपने को। पहना तुम्हारे पाँवों में। जूती बन, बिछी बिस्तरे पर। चादर बन। कभी टंगी खूंटी पर। तुम्हारा मुखौटा बन। मैं बनी वस्तु। तुम रहे भोक्ता।"*[25] महाभारत काल में द्रौपदी का अपमान, उसे निरावरण करना, नारी की नियति एवं त्रासदी की करुण व्यथा कथा है। वह स्थिति समसामयिक यथार्थ भी है । आज भी नारियों पर अत्याचार होते हैं परन्तु उनके लिए रक्षक कृष्ण नहीं है। उसकी त्रासदी यह है-

"झेलती रही क्रमशः निरावरण होने की यातना। चबाती रही दुःख और अपमान का दर्द। बनी रही वासनाओं के खूनी स्वाद की। खुराक।"[26] नारी अनेक रूपा है। वह प्रेमिका, पत्नी, माँ, बहन और बेटी है और इन सभी भूमिकाओं का निर्वाह करती हुई वह यह भूल गई कि वह स्वयं कौन है--*"वह बनना चाहती है। अच्छी प्रेमिका। वह बनना चाहती। आज्ञाकारिणी पत्नी। वह बनना चाहती। हमेशा प्यार करती माँ। वह बनी रहना चाहती। पापा की सबसे प्यारी बिटिया। लेकिन राह चलते। अचानक कोई पूछना तुम कौन। अपने बारे में उत्तर देती हुई सोचती मैं कौन।"*[27]

आधुनिक काव्य में पौराणिक अहल्या को लेकर नवीन वैचारिक दृष्टि से लेखन हुआ है। चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित ने 'अभिशप्त शिला', डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'ओ अहल्या', बलदेव वंशी ने 'आत्मदान', रमेशचन्द्र ने 'स्वर पाषाण शिला के', रश्मि मल्होत्रा ने 'शिलाखंड' आदि कृतियों में 'अहल्या' की विवशता वर्णित की है जीवन की नियति एवं त्रासदी और उसके विद्रोह को अभिव्यंजित किया है। प्रभा खेतान की 'अहल्या' में नारी वह तरल शरीर है जो रहस्यमय हरे जल की प्यास लिए हुए है, वह प्रेम सलिला है। प्रभा खेतान का 'अहल्या' काव्य नारी जीवन की कारुणिक कथा है। इसमें अहल्या के माध्यम से परित्यक्ता के दुःखी जीवन की ओर संकेत किया गया है- *"मुक्त प्रस्तर से भयभीत। परित्यक्त। शिलाखंड-सी। पड़ी राह के किनारे। चाहती रही परम प्रेम का भराव।"*[27]

भारतीय समाज में परित्यक्त स्त्री के प्रति संदेहात्मक दृष्टि होती है। समाज परिस्थितियों को बिना समझे परित्यक्ता स्त्री के प्रति उपेक्षा एवं तिरस्कार का भाव रखता है। आज भी तलाकशुदा स्त्री की स्थिति उस परित्यक्त अहल्या के समान है, जिसका जीवन जड़वत था--*"तुम्हें बचाकर। निकल जाता हर पाँव। अजनबी बन जाती। हर आँख। कभी, न उग पाई। हरित संवेदना की घास"*[29]। शापग्रस्त अहल्या दुर्भाग्यशाली रही। संवेदनशील राम ने आत्मीय भाव से उसका उद्धार किया। परंतु आज की नारी के राम की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है क्योंकि संवेदना शून्य समाज में राम का मिलना असंभव है--*"बची हुई अग्निशिखा की कसम। आँसू की हर बूंद की कसम। मत करो प्रतीक्षा राम की। प्रयास करो। प्रस्तर की कारा से। मुक्ति की।"*[30] प्रभा खेतान की मान्यता है कि नारी को अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता के प्रति स्वयं सजग सतर्क होना आवश्यक है। उसे अपने जीवन की समस्याओं का स्वयं हल खोजना होगा, किसी राम की अपेक्षा करना बेकार होगा-- *"छोड़ दो। किसी और से मिली मुक्ति का*

मोह। तोड़ दो, शापग्रस्तता की कारा।"[31]

पुरुष अपने अहम, अपने वर्चस्व, अपनी वासना की तृप्ति के लिए नारी को भोग्या मानता रहा है। इन्द्र के द्वारा छद्म वेष बदलकर अहल्या का भोग करने में अहल्या का कोई दोष नहीं था परन्तु गौतम के द्वारा इसे दंडनीय अपराध माना गया। अतः अहल्या परित्यक्ता का जीवन जीने के लिए विवश हुई। अहल्या के माध्यम से कवयित्री अपनी संवेदना उन समस्त परित्यक्ता नारियों के प्रति व्यक्त करती है, जिन्हें समाज में उपेक्षित और तिरस्कृत किया गया है। *"कौन था वह पुरुष, अहल्या। जो लाँघकर सतीत्व की सीमा। कर गया, नारीत्व का अपमान। क्या था तुम्हारी आँखों में। उसके लिए। जो डोल गया इन्द्रासन? बदल गया शरीर। नहीं पहचान सकी तुम। क्या दोष तुम्हारा था केवल?"*[32]। विडंबना तो यह है कि निष्पाप को दंड भोगना पड़ा है। अहल्या को इन्द्र के मायावी रूप ने छला- *"निष्पाप होती हुई भी तुम। कर दी गई प्रवंचित। भोक्ता के पलायन के बाद। समझ पायी तुम। पुरुष का मायावी रूप"*[33]।

चिंतक प्रभा खेतान ने इस काव्य में वर्तमान युग सत्य को उभारा है कि राम ने अहल्या को बंधन से मुक्त कर दिया परंतु नारी तो निरंतर बंदिनी रूप में ही है। भले ही अहल्या की कथा समाप्त हो गई हो परन्तु आज भी असंख्य अहल्याएँ हैं जो शापग्रस्त जीवन जी रही हैं। *"आज भी झेलती अहल्या। भोक्ता इन्द्र। विधायक गौतम। मुक्ति-दाता राम। क्यों? आखिर क्यों। बदल नहीं पाई कभी। उधार की मुक्ति से। पुकार की भाषा?"*[34] नारी की नियति यही है कि वह अपनी अन्तर्व्यथा को व्यक्त नहीं कर पाती है। जीवन की समस्त त्रासदियों को मूक होकर सहन करती है-- *"सदियों से पड़ी हुई। सीपियों के अंधेरे जगत में हम। कभी नहीं समझ सकी किसी को। अपने अंदर का त्रास।"*[35]

पुरुष और स्त्री में अंतर यही है कि सामान्यतः पुरुष अहंकारी होता है और स्त्री सहनशील होती है। उपेक्षित, तिरस्कृत रहना स्त्री की यह विडम्बना है कि जिसके प्रति वह समर्पित है, जिसे वह देवता के रूप में पूजती है, जिसे वह पति परमेश्वर मानकर श्रद्धा-विनत है, जिसके सान्निध्य में उसने जीवन के सुख-दुःख झेले हैं, वही पति अपने अहंकार के कारण पत्नी के प्रति अविश्वासी होकर उसके नारीत्व का अपमान करता है, उसे त्याग देता है-- *"पत्थर होती हुई भी अहल्या। तुम चकित विस्मित। अन्तर की आँखों से। देखा करती। पुरुष का दर्प। कैसे बना देता वह शिला-खण्ड अभी भी"*[36]। *"श्मशान की दुनिया में। चंदन काठ-सा तुम्हारा अस्तित्व। अब भी तो आत्मसात करता। दाह की ज्वाला"*[37]। नारी जीवन का यथार्थ यही है कि वह प्रत्येक युग में छली गई है। पुरुष ने शैक्षिक प्रगति की है, बुद्धिजीवी की संज्ञा से अभिहित हुआ है, परंतु उसने नारी को सदैव हाशिए पर ही रखा। *'युग-युग के आइने, मगर हर आइने में, मुझे नजर आती रही, सिर्फ तुम। स्थितिग्रस्त अभिशप्त, काश!"*[38]

नारी में अन्तर्निहित दुःख को सहन करने की ऊर्जा की प्रशंसा करती हुई कवियित्रि लिखती है कि 'हम प्रकृति की बेटियाँ हैं। तूफानों के बीच भी कविता लिख सकती हैं। हम जीवन में आने वाली आपत्तियों-विपत्तियों को झेलते हुए भी सबके प्रति प्रेम भाव ही रखती हैं। चुनौतियों का सामना करने की अपार क्षमता हमारे में हैं'--*"देती हुई चुनौती। त्रासदी को। आदमी को। प्यार कर सकती हैं। टकराती हुई। हिंसा की लहरों से। भय कैसा? तूफान तो हमारी भाषा है"*[39]। नारी युगों से मुक्ति की कामना कर रही है परन्तु वह सामाजिक बंधनों में बंदिनी बनी है। इस तथ्य को अहल्या के कथन में प्रभाजी ने व्यक्त किया है--- *"मैं युगों से प्रतीक्षा कर रही हूँ, लेकिन मुक्ति नहीं मिलती, मर रही हूँ धीरे..... और यह रोज घटने वाली घटना है, कौन रोता है ऐसी मौत पर"*[40]।

प्रभा खेतान ने अपने काव्य में ही नहीं अपने समस्त लेखन में नारी जीवन की त्रासदी को बेबाकी से

उभारा है, विशेष रूप से वे नारी-शोषण के प्रति चिन्तित हैं। नारी को एक वस्तु रूप में देखना पुरुष की अहंकारी प्रवृति ही है। उनके काव्य में नारी के प्रति गहन सहानुभूति एवं संवेदना व्यक्त हुई है। नारी परिवार एवं समाज के प्रति समर्पित है, परन्तु समाज के द्वारा उसका अपमान शोषण किया जाता है। समाज की धुरी होने पर भी वह सदैव हाशिए पर ही रही है। प्रभा खेतान ने समाज से प्रतिबद्ध होकर लेखनी चलाई है। उनके काव्य में 'कृष्ण धर्मा मैं अभिमन्यु' के समान नारी की दयनीय स्थिति एवं विवशता का निरूपण गहन संवेदनशीलता से हुआ है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास--- डॉ.नगेन्द्र। **2.** अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य--- पृ.सं.181-- राजेन्द्र यादव। **3.** Feminist political theory, An intoduction (बेलरी ब्रायसन)। **4.** 'द सेकण्ड सैक्स' सीमोन द बॉउवार। **5.** वही। **6.** Simon De Beauvoir Today, coversation - A Schwarzer 1972-1982 पृ.सं.13। **7.** वही। **8.** बेट्टी फ्रीडेन-- पृ.38। **9.** फेमिनिस्ट पोलीटिकल थ्योरी- वेलरी ब्रायसन, पृ.162। **10.** अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ.181। **11.** अपरिचित उजाले-- प्रभा खेतान, पृ.10। **12.** वही, पृ.10। **13.** अपरिचित उजाले-- प्रभा खेतान, पृ.16। **14.** हुस्नाबानों और अन्य कविताएँ-- प्रभा खेतान, पृ.19। **15.** अपरिचित उजाले-- प्रभा खेतान, पृ.55। **16.** सीढ़िया चढ़ती हुई मैं-- प्रभा खेतान, पृ.50। **17.** तमाल के झरोखे से-- पं. विद्यानिवास मिश्रा, पृ.30। **18.** हुस्नाबानो और अन्य कविताएँ, पृ.10। **19.** अहल्या-प्रभा खेतान, पृ.25। **20.** वही- पृ.28। **21.** वही-- पृ.29। **22.** वही-- पृ.41। **23.** सीढ़ियां चढ़ती हुई मैं-- प्रभा खेतान, पृ.26। **24.** वही-- पृ. 5। **25.** कृष्णाधर्मा मैं- प्रभा खेतान, पृ.27। **26.** हुस्नाबानो और अन्य कविताएँ, पृ.26। **27.** अहल्या-- प्रभा खेतान, पृ.22। **28.** वही- पृ.24। **29.** वही- पृ.26। **30.** वही- पृ.27। **31.** अहल्या- प्रभा खेतान, पृ.39। **32.** वही- पृ.39। **33.** वही- पृ.42। **34.** वही- पृ.47। **35.** वही। **36.** वही- पृ.54। **37.** वही- पृ.74-75। **38.** वही। **39.** अहल्या- प्रभा खेतान, भूमिका से। **40.** अहल्या - प्रभा खेतान, भूमिका से।

ब्लॉक-22, फ्लैट-5डी, ग्रीनफील्ड सीटी,
ई3/398, जोटू शिबरामपुर रोड
कोलकाता-700141
मो. - 7003117056

आत्मनिरीक्षण

शिकायतें करना, दूसरे के दोष निकालना – हमारी ये मानसिक बीमारियाँ हैं, अस्वस्थ मानस के लक्षण हैं।

'क्या तुमने उस आदमी के विषय में नहीं सुना जो सूर्य को इसलिए दोष देता है कि वह उसकी सिगरेट नहीं सुलगाता है।' –**कार्लाइल**

समुद्र में दोष है– वह खारा है। पर, यह नहीं सोचा, इसी से हमें नमक भी मिलता है और यदि मीठा हो जाए तो सारी दुनिया समुद्र के इर्द-गिर्द छा जाएगी, फिर बादलों के बनने के मौके भी कितने कम हो जायेंगे! सोने में सुगंध होने दो, फिर सोने का अता-पता नहीं चलेगा। चांद में धब्बे हैं, पर वह तो हमें चांदनी से शीतल करता है। फूल में कांटे हैं – यह विधाता की मूर्खता है– यह कहना सरल। पर, ये कांटे फूलों के पहरेदार हैं– यह भी तो विचारणीय हैं! कांटे हैं, पर फूल इन्हें अपने पास रखता है, वह तो हमें सुगंध से तृप्त करता है– फिर कैसी शिकायत!

संतों का रास्ता अलग है, है वही सही रास्ता!

जो दिल खोजे आपना तो, मुझ-सा बुरा न कोय।

आनन्दभाव का काव्य : डूबो मत, लगाओ डुबकी

डॉ. सूफिया यास्मीन

आचार्य विद्या सागर की काव्य कृति 'डूबो मत लगाओ डुबकी' (ज्ञान विद्या पीठ प्रकाशन, संस्करण. 2017) आज के भौतिकवादी दुनिया के बीच एक ऐसा प्रकाश पुंज लिये हुये हमारे बीच उपस्थित है, जिसमें जीवन के कई समाधान हैं और कई शंकायें अपने आप समाप्त हो जाती हैं। बस आवश्यकता है उसे जीवन में उतारने की। आचार्य जी ने डूबो मत डुबकी लगाओ की डुबकी में आनन्दवाद की जिस परिकल्पना को प्रस्तुत किया है वह किसी चीज की चिंता नहीं करती और स्वतंत्र रूप से किसी भी कार्य की गहराई में डूबने को नहीं कहते, बस उसमें डूबकर डूबने के भाव रूपी आनन्द लेने की बात करते हैं। उनकी दृष्टि अध्यात्म से जुड़ी हैं, किसी की आशा नहीं करती है, वह सभी को अपने में समाहित किये हुये हैं। आत्मा, परमात्मा, जीव सभी को उन्होंने इस काव्य संग्रह में स्थान दिया है। वे कबीर, तुलसी, तिरूलवर की तरह सब कुछ जन के कल्याण और उद्धार के लिए रचते हैं। उनका स्वयं का मानना है कि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति असम्भव है। वे प्रयास को ही सम्मान की नजर से देखते हैं। वे कर्म की प्रधानता को ही सही मानते हैं। *कर्म को सर्वोपरि मानकर वे ईश्वर की आवश्यकता से परहेज करते हैं।* उनकी निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं----*चेतना से अचेतना का उद्भव / कैसे सम्भव / क्या सम्भव है कभी / बो कर बीज बबूल का / आम ?*

आचार्य विद्या सागर ने इस काव्य में जीवन सृष्टि की सच्ची सहचरी **प्रकृति** के रूप को भी भिन्न-भिन्न सन्दर्भों से उसके रूप, रंग व उसके महत्व की परिकल्पना को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। **चितकबरा** कविता की कुछ पंक्तियां इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं--*प्रकृति के प्यार में / रंगीन राग ने / अरूपी पुरूष की / चिम्बरा को....... / पुरुष को परख करना भी / कठिन हो गया है आज / बहुरूपी बनाया है / चितकबरा / बेशक।* उपरोक्त में आचार्य जी ने पुरुष की वास्तविकता को पहचानने और बहुरूपी रूप के लिए **चितकबरा** शब्द को शीर्षक रूप में रखा है, वह उनकी पारखी दृष्टि का ही परिणाम है।

आचार्य जी स्वयं के बल को ही अपना बल मानते हैं, अन्य पर विश्वास नहीं करते हैं, स्वयं को अकेला ही मानते हैं यही कारण है कि सत्य का निर्णय लेते समय उनका मन विचलित नहीं होता, क्योंकि वह उनकी स्वयं की अभिव्यक्ति है, उधार लिया हुआ सम्बल नहीं है। इसलिए वे अपनी कविता **निर्णय लिया निशा** में अकेले प्रकाश पुंज की परिकल्पना करते हैं-

विपरीत रीत/बनी दशा में / अमा की/घनी निशा में / स्वयं को देखा था... / कि मैं

अकेला / प्रकाश पुंज हूँ / ललाम हूँ / शेष सब / शाम शाम।

आचार्य जी की कविताओं में उनका अध्यात्म हमेशा साथ-साथ चलता है और उसके **बिम्ब- प्रतीक** कविता में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराते हैं। मोह, माया आदि सभी को उन्होंने काव्य में स्थान दिया है। वे मनुष्य की हर परिणति से पूर्णता से परिचित हैं वे कहते हैं मानव की अन्तःचेतना स्थिर न होने पर उसका स्वरूप अस्थिर रहता है, उसके मस्तिष्क के कीड़े, उसमें नई हलचल पैदा करते रहते हैं जिससे उसकी चेतना भ्रमित हो जाती है, **खो जाने दो** कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रमाण हैं---*ओरी! ललित लीलावती/चलित शीलावती/भ्रमित चेतना। जब से तेरा/क्रीड़ास्थल/बाहर से आ भीतर बना है /तब से/पुरुष की पीड़ा/और घनीभूत हुई है/मानो मस्तिष्क में/काट रहे हों कुछ कोई।*

आचार्य जी ने जीवन में घटित होने वाली सभी घटनाओं के पहलुओं को अपने काव्य का आधार बनाया है। उनकी कवितायें उनके अनुभवों और उसके आनन्दवाद तक ही सीमित हैं, उनकी सम्पूर्ण परिकल्पना उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है, वहां निष्कर्ष या परिणाम नहीं है, **बस है केवल अनुभव और आनन्द।** आचार्य जी ने इस संदर्भ में प्रकृति की रूप भंगिमा को मानव से जोड़ने का प्रयास किया है---*मदन मोहनी/रति सी माननी /मृदुल-मुलुब/मुदिद-मुखी /मृगदृगी/मेरी मति/आज बनी है....../बार-बार बदल रही है/ करवटें..../इस स्थिति में/अपने होने में भी।*

इस संग्रह का नाम **डूबो मत, लगाओ डुबकी** ही इस काव्य के बारे में बहुत से प्रतिमान व्यक्त कर देता है, बहुत से प्रश्नों का समाधान स्वयं पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। यह काव्य अनुभव के विभिन्न स्तरों एवं आनन्द की व्याख्या करता है।

आचार्य विद्या सागर ने संसार की सभी चीजों को अपनी कविताओं में आत्मसात करने का प्रयास किया है और वे कविता में अपनी बातों को जन-जन के सम्मुख पहुँचाने में सहजता का अनुभव करते हैं। वे सत्ता के चले जाने पर उसके उपयोग, परिणाम, उसके भोगे हुए यथार्थ में सामंजस्य न स्थापित करने पर व्यक्ति की व्यथा का जो द्वन्द प्रतुत किया है वह देखते ही बनता है। कुछ पंक्तियां इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं--*सत्ता पलट तो गई/ भोग का विभाग हुआ / योग का संयोग हुआ /किन्तु उपयोग /उपयोग कहां हुआ? /भोक्ता पुरूष ने/उपयोग का उपभोग नहीं किया/मात्र परिधि/परिणाम हुआ बस।*

आचार्य जी की कवितायें समभाव से रचित हैं, उन्हें अन्दर-भीतर की सभी चीजों की परिधि और परिणाम मालूम हैं। वे प्रसाद की तरह आनन्दवाद की परिकल्पना करते हैं परन्तु उनके प्रतिभिज्ञा दर्शन और अद्वैतवाद से बिल्कुल अलग होकर केवल अनुभव के आनन्द पर दृष्टि रखते हैं।

आचार्य जी की कविताएं मुक्त छन्द में हैं परन्तु उनकी मुक्त अवस्था कविता में अभिव्यक्ति की स्वाभाविक परिधि में आगे बढ़ती है। *कविताओं के शीर्षक ही बहुत सी बातों का संकेत कर जाते हैं।* कविताओं में कवि जो कथन करते हैं उसमें प्रश्न के साथ उत्तर भी विद्यमान है। कविता **खो जाने दो** में वे वासना को एक तरफ सुख की पराकाष्ठा में स्वीकार तो करते हैं पर उसकी गहराई में उतर कर आलिंगन कर गन्ध और सुख की चादर ओढ़ने की बात कर उसकी माया को नकारते हुये भी उसमें खो जाने की बात करते हैं। *अरी वासना! /यथा नाम तथा काम है तेरा/तुझसे सुख का/निवास वास न!/तुझमें गहराई है कहां? और /मैं गहराई में उतरने का/हामी हूँ....../तेरे आलिंगन में सुख की गंध तक नहीं/मात्र सुख की वासना है/ओ ओढ़ रखी है तूने/जिसमें सारी माया ढ़की है।/उसमें खो जाने दो/ओ! वासना जान सकूँ तुम्हें।*

आचार्य जी की दृष्टि में सब कुछ ईश्वरत्व की परिधि में निर्धारित होता है, मानव केवल उसके उपनामों, और प्रतीकों को कैसे आत्मसात करता है अर्थात उसे जन के सम्मुख कैसे अभिव्यक्ति देता है, यह स्वयं उस पर निर्भर करता है। उन्होंने ज्ञान में समानता को सर्वोपरि माना है और सभी शास्त्रों के

सार के रूप में उसे स्वीकार करते हैं क्योंकि आत्म अनन्त चेतना पूर्ण निर्मल, स्वच्छ है। **आंखों में धूल** कविता की कुछ पंक्तियां इसकी प्रमाणिकता सिद्ध करती हैं--*ज्ञान ही दुःख का/मूल है/ज्ञान ही भव का/कल है/मत चुन अनुचित।/मूल है/सब शास्त्रों का/सार यही।/समता बिन सब/धूल है।*

कवि स्वयं की आप बीती को ही अपने काव्य का आधार बनाते हैं। कल्पना का कोई भी पुट उनकी कविता में दिखलायी नहीं पड़ता है। वे यथार्थ में अपने द्वारा भोगे हुये जीवन मूल्यों को ही काव्य में स्थान देते हैं। वे जन से कहते चलते हैं कि मैं स्वयं निराधार हूँ, मेरा जीवन स्वयं की सत्ता से नहीं चलता बल्कि निषेध की सत्ता से जीता हूँ। **आगत स्वागत** कविता की कुछ पंक्तियों में वे स्वयं की बात करते हैं परंतु इनमें अनागत की यथार्थता की ओर भी संकेत है- *समय-समय पर/शून्य में से /अनागत का अपना/निरा सन्देश /प्रचारित-प्रसारित हो रहा/गुप्त रूप में........./ऐसा कोई नहीं/आवास मेरे पास/नहीं पा सकेंगे मुझमें/अवकास! हो विश्वास!........../मेरा कोई विधिरूप जीवन नहीं/ निषेध की सत्ता में निर्मित जीवन जीता हूँ......../निराधार हूँ, था।/कैसे दे सकता है? निराधार हो /आधार ओरों को।*

आचार्य जी की कविताओं में **मन की शांति** का रूप अत्यन्त सरल रूप में दिखलायी पड़ता है। **भोर की ओर** कविता में चारों ओर भ्रमर-तिमिर के फैलते रूप की गति भी उन्हें मालूम है। वे सागर में तैरते हुये, थकने पर किनारे की तलाश के लिए तत्पर है और अन्त में अब घोर नहीं भोर मिले की परिकल्पना करते हैं। कविता की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य-*कब से आ रहा हूँ/अपार सागर में /तैरता-तैरता/हाथ भर आये हैं /नैर्बल्य की अनुभूति/ अब और नहीं /छोर मिले।......./चारों ओर/ भ्रमर-तिमिर /फैला है/फैलता जा रहा है/चरण चल रहे/साथ आस्था है/साफ रास्ता है/धृति कहती है/अब घोर नहीं/भोर मिले।*

आचार्य जी की कविताओं में भावों का प्रस्फुटन स्वयं निसर्गतः हुआ है। वे किसी काव्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अपने वचनों को परिधि में नहीं बांधते हैं। उनका मानना है कि काव्य स्वयं की सहज अभिव्यक्ति है और उसके लिए कोई सिद्धान्त आवश्यक नहीं है। उनके काव्य वचन स्वतंत्रत अभिव्यक्ति में रचे गये हैं। डूबो मत लगाओ डुबकी के आमुख में वर्णित है--*अनुभूति की अनन्त धरती पर जो घटित हुआ, उसे आकार प्रकार मिला, रूप मिला मूर्त शब्दों का! नामकरण हुआ डूबो मत, लगाओ डुबकी। यह रचना आमूल-चूल परम शान्त रस से सिंचित है, संपोषित है। स्वयं ऊर्ध्वमुखी बन पड़ी है और पाठकों को ऊर्ध्वमुखी बनाने में साधनतम ही नहीं, आधारशिला भी है।*

आचार्य जी की रचनाओं में अर्थ एवं भाव साधारणतः सहजता से स्वयं खुलते नजर आते हैं। वे जीव की **चितिजननी** से प्रार्थना करते हैं - *रति, रति-पति के पति/मति में रति भाव/हो न सके प्रादुर्भाव / बस!/इस मति की रति / विषय-विपरीत/सतत निरत रहे।*

उनका मानना है जीवन में जो हमें प्राप्त हो रहा है अर्थात मिल रहा है वह नश्वर है, यही सत्य है। सभी का एक ही सत्य है, उसकी सत्ता में सभी कथित ईश्वर एक समान हैं। *सत ही धाता विधाता है / पालक पोषक निज का निज ही / सत ही विष्णु त्राता है / परम-पताका / सत ही शिव संघाता है।*

आज के भौतिकवादी संसार में जहां मनुष्यता मर रही है, व्यक्ति केवल अपने में ही व्यस्त है और दूसरे से कोई नाता नहीं रख रहा है, ऐसे समय **डूबो मत, लगाओ डुबकी** काव्य को पढ़कर हम अपने में वास्तविक परिवर्तन ला सकते हैं।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
विद्यासागर कॉलेज फार वीमेन, कोलकाता
ईमेल : sufiayesmin@gmail.com
मो. - 9804430296

हिंदी कविता में कश्मीर की नैसर्गिकता के विविध रंग

उमर बशीर

किसी भी साहित्य सृजन के लिए विषय-वस्तु उसका प्रथम और अनिवार्य तत्त्व होता है । दूसरे शब्दों में कहें तो विषयवस्तु साहित्य की प्रत्येक विधा का प्राण-तत्त्व कहलाता है। इस तत्त्व के अभाव में किसी प्रकार की भी काव्य-रचना संभव नहीं है। किसी भी साहित्यिक कृति की प्रतिपाद्य सामग्री उसकी विषय-वस्तु कहलाती है। एक साहित्यकार विषय-वस्तु सामग्री के माध्यम से ही अपने विचारों, सिद्धांतों, मान्यताओं, अवधारणाओं, अभिमतों को व्यक्त करता है। यह सामग्री उपयोग की दृष्टि से अनेक प्रकार की हो सकती है उदाहरणार्थ-वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, अनुसंधानपरक आदि। विषयवस्तु से साहित्यकार विचारों या घटनाओं के प्रयोगात्मक, रचनात्मक एवं कल्पनाशील पक्ष-विपक्ष को वर्णित करता है। अपनी परिवेशगत परिस्थितियों से प्रेरित अथवा प्रभावित होकर एक कवि अनुभव ग्रहण करता है। कवि की इसी अनुभूति परक चेतना का आश्रय लेकर कविता जन्म लेती है। एक कवि विषय-वस्तु के चयन एवं नियोजन की प्रेरणा अपने परिवेश से ग्रहण करता है।

कश्मीर के परिवेश से प्रभावित होकर सम्बंधित हिंदी कविता में देश-विदेश के अनेक कवियों ने कविताओं का सृजन किया है। जिनमें प्रकृति-वर्णन विशेष प्रवृत्ति के रूप में उभर कर सामने आती है। वस्तुतः अपनी प्राकृतिक सुंदरता के लिए कश्मीर विश्व भर में प्रसिद्ध है। इसे स्वर्ग की उपाधि से विभूषित किया गया है। पृथ्वी का यह भाग वास्तव में भू-स्वर्ग की सार्थकता को भलि-भाँति सिद्ध करता है। यहाँ की सुरम्य घाटियाँ, छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, मीठे जल से भरे नदी-नाले, बड़ी-बड़ी झीलें, पुष्पांजलित बागात, चिनार, देवदार, अखरोटादि के वृक्ष, बर्फ, हरे-भरे मैदान, वन इत्यादि मानव-मन को आमोद-प्रमोद, हर्ष, शाँति, आकर्षण एवं आनंदोल्लास के अथाह प्रवाह में बहा ले जाते हैं। प्रकृति के इस बहुमूल्य रत्न कश्मीर को कवि-मन ने तीव्र अनुभूत कर कविता का रूप दे दिया है।

हिंदी कविता में कश्मीर की सुषमा पर अनेक कवियों ने कई कविताओं का सृजन किया है। ऐसे कवियों में सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, शमशेर बहादुर सिंह, हरिकृष्ण प्रेमी, हरिवंशराय बच्चन, सच्चिदानंद हीरायन वात्स्यायन 'अज्ञेय', रामधारी सिंह 'दिनकर', नीरज इत्यादि और श्रीमती सत्यवती मल्लिक, गंगादत्त शास्त्री

'विनोद', डॉ. रतन लाल शांत, चंद्रकांत जोशी, सुतीक्षण कुमार 'आनंदम', पृथ्वीनाथ 'मधुप', डॉ. रमेश कुमार शर्मा, चंद्रकांता, डॉ मज़हर खान, डॉ. शुभश्री पाणिग्राही, आशमा कौल, बद्रीनाथ भट्ट इत्यादि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

आगरा के जोन्हरी ग्राम में जन्मे, स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक, प्रकृति-चित्रण में निपुण कवि **श्रीधर पाठक** (सन् 1859-1928 ई.) प्रकृति के अत्यधिक प्रेमी थे। उनका अनुरागी चित्त अधिकतर प्राकृतिक सौंदर्य के अद्‌भुत उपकरणों में ही रमा रहा। प्रकृति-चित्रण में पाठक जी को सर्वाधिक सफलता मिली है। तत्कालीन कवियों की तुलना में उन्होंने सबसे अधिक प्रकृति-वर्णन किया है। उनके द्वारा रचित काश्मीर सुषमा (सन् 1904 ई.) में कश्मीर के अनेक प्राकृतिक एवं धार्मिक स्थानों के सरस चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। घाटी की प्राकृतिक सुंदरता को कवि ने सुक्ष्म अनुभूति में पिरोकर कविता में उंडेल दिया है। उन्होंने यहाँ की प्रकृति की तुलना मदारी की थैली से की है कि जिस प्रकार मदारी अपनी अद्‌भुत कला से अपनी थैली से अनेक बार निरंतर पृथक-पृथक वस्तुएँ निकालकर दर्शकों को चकित कर देता है उसी प्रकार कश्मीर की नाना-रूपी विस्मयजनक प्रकृति भी जादूभरे भिन्न-भिन्न दृश्य दिखाकर प्रेक्षक सहदय को स्तब्ध कर देती है-- *"धनि-धनि श्री कश्मीर-धरनि, मन-हरनि, सुहावनि /है यह जादूभरी, विश्व बाज़ीगर थैली /खेलत में खुलि परीशैल के सिर पे फैली।।"*

कश्मीर की नैसर्गिक सुषमा ने कवि को अत्यधिक हर्षातिरक भर दिया है। वह इस विस्मयजनक नैसर्गिकता पर मोहित होते हैं और उसके आकर्षण की तीव्रता को सूक्ष्म रूप में चित्रित करते हुए अनुप्रास की छटा बिखेरते हैं--

"प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति/पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति।।" कश्मीर की सुषमा प्राकृतिक सौंदर्य के विविध उपकरणों की सरस तथा मनोहारी रचना है । पाठकजी ने प्रकृति से रागात्मक संबंध स्थापित कर तथा अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से उसका निरीक्षण कर अनेक शब्द-चित्रों की सृष्टि की है। आलोच्य रचना में प्रकृति नारी-समान यौवन-मद से उन्मत्त है। कश्मीर सुषमा की भाषा सरस तथा माधुर्य गुण से परिपूर्ण है।

श्री **राम नरेश त्रिपाठी** ने अपने स्वप्न (1928 ई.) काव्य में कश्मीर की प्रकृति के अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है। उनके द्वारा विरचित कश्मीर नामक एक कविता में कश्मीर की सुंदरता का चित्रण किया गया है। **हरिकृष्ण प्रेमी** कृत यह मेरा काश्मीर; **नागार्जुन** की चिनार, डल झील; **अज्ञेय** की देवदार ; कवि **नीरज** कृत कश्मीर के नाम आदि कविताओं में कश्मीर के अतुल्य प्राकृतिक सौंदर्य के अनेक बिंबों की सृष्टि की गयी है । नागार्जुन की "चिनार" कविता में चिनार के वृक्ष का चित्रण है तो अज्ञेय की "देवदार" कविता में देवदार के वृक्षों का मनमोहक छायांकन है।

कश्मीर की प्रकृति के संदर्भ में **सत्यवती मल्लिक** (जन्म सन् 1906 ई., श्रीनगर) ने अपनी पहली कविता "हब्बा खातून की जीवन संध्या" में भावपूर्ण बिंबों के माध्यम से पतझड़ का चित्रण किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व लिखित इस कविता में पतझड़ के निराशा भरे परिवेश में भी आशा की किरण दिखायी देती है। कवयित्री यह आशा करती है कि शरद समाप्त होने के पश्चात वसंत आयेगा और एक नया सवेरा देखने को मिलेगा, समय परिवर्तित होगा, नया युग आयेगा, देश स्वतंत्र होगा, फलफूल खिलेंगे और नर-नारी जोग दर जोग हब्बा खातून काश्मीर भाषा की आदि कवयित्री, जिनके गीत आज भी बहुत प्रसिद्ध हैं की समाधि पर आयेंगे और आकर पुष्पजड़ित हार चढ़ायेंगे।

गंगादत्त शास्त्री 'विनोद' कृत उल्लोल (1964 ई.) काव्य-संग्रह भाव-पक्ष प्रधान रचना है। इस रचना पर अजनवीयत का प्रभाव देखने को मिलता है।

आलोच्य कृति में कश्मीर की सुषमा (प्रकृति) के विविध रंग बिखेरे गये हैं। वसंत एवं वर्षा ऋतु ने कवि को अत्यधिक हर्षाल्हादित किया है। कवि ने कश्मीर की प्राकृतिक सुंदरता को कभी डल झील के रूप में, तो कभी बादाम, सेब, चिनार, देवदार आदि वृक्षों के रूप में नाना रूपी दृश्यों में प्रस्तुत किया है। कवि प्रकृति से शिक्षा लेता भी है और उदाहरण सहित शिक्षा देता है।

श्रीनगर में जन्मे **डॉ. रतन लाल शाँत** कृत खोटी किरणें (सन् 1965 ई.) काव्य-संग्रह में एक ओर अनुभूति की प्रवणता है तो दूसरी ओर कवि कश्मीर की प्रकृति से ऊब का अनुभव भी करते दिखायी देते हैं। इस ऊब के कारण ही वह अब उस प्रकृति-प्रतीक ढ़ाल में कश्मीरी जनता की चित्तवृत्ति को जानने-समझने के लिए विविश होता है। उन्होंने "झील की सांझ", "बसंत गीत", "महक का जन्म", "मौसम", "बर्फ हुई घाटी" आदि कविताओं में प्रकृति के अनेक नवीन बिंबों की सृष्टि की है। प्रकृति के बाह्य सौंदर्य से ऊपर उठकर कवि एक नयी सत्ता को स्थापित कर कहता है-- *"बर्फ़ को क्या दे सकूंगा प्यार /बर्फ़ होना पड़ता है अरमानों को हर बार"*

चंद्रकांत जोशी कृत दुःख-सुख काव्य-संग्रह मूलतः एक प्रौढ काव्य-रचना है। आलोच्य संग्रह में संकलित "कश्मीर एक अनुभूति" कविता में कश्मीर के लोक-जीवन को और प्रकृति के बाह्य-सौंदर्य के साथ-साथ नर-नारी के सौंदर्य को सराहा गया है। कवि ने विशेषतः कश्मीर की प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण किया है। एक साधारण कविता होते हुए भी इस रचना का आलंबन सराहनीय है। आगे क्या होगा? की जिज्ञासा को रोमांचक ढंग से रेखांकित किया गया है। तत्सम-बहुल शब्दावली के प्रयोग से कविता में शब्द-बोझिल का दोष उत्पन्न हुआ है। इसमें भाव की अपेक्षा शिल्प पर अधिक ध्यान केंद्रित किया गया है।

जम्मू के प्रतिष्ठित कवि **सुतीक्षण कुमार आनंदम** की कविताएँ कश्मीर के लोक जीवन और वादी के प्राकृतिक सौंदर्य का मिला-जुला रूप है । देखती आकाश आँखें (1968 ई.) और नौका का इतिहास (सन् 1970 ई.) काव्य-संग्रह में कहीं कवि प्रकृति को माता समान मानकर वात्सल्य भाव का निर्वहन करते हैं, तो कहीं प्रकृति के साथ प्रणय-संबंध स्थापित कर सुंदर बिंबों की योजना करते हैं, तो कहीं वादी की सुंदरता के चित्रण में छायावादी भाव-बोध दिखायी पड़ता है।

फुटकर कविताओं की श्रृंखला में **भूपेंद्र कुमार 'स्नेही'** की "कश्मीर तुम्हारे बिना", पृथ्वी नाथ 'मधुप' की "बौराये बादाम बसंती वायु चली" में प्रकृति के रंग-बिरंगे बिंब देखने को मिलते हैं। **पृथ्वी नाथ 'मधुप'** की "बौराये बादाम बसंती वायु चली" कविता कल्चरल अकैडमी जम्मू की साहित्यिक पत्रिका हमारा साहित्य के वार्षिक अंक सन् 1964 ई. में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में कश्मीर के वसंत ऋतु के दिनों की प्रकृति का चित्रण किया गया है। *"बादाम बसंती वायु में बौराये हैं, प्राणों ने नव अंगड़ाई ली है, पत्तों पर लाली छाई है, बसंती वायु नवजीवन का वायु लिए गज गामिनी स्त्री की तरह मंथर गति से चल रही है"। कवि का मन इस सुंदर मनमोहक परिवेश में प्रफुल्लित हो उठता है, अनुभूतियाँ जाग उठती हैं।"*

डॉ. शुभश्री पाणिग्राही के काव्य-संकलन पन्ने कश्मीर के (2006 ई.) में कश्मीर की विभिन्न विश्व प्रसिद्ध वस्तुओं, पर्यटक-स्थलों, झीलों, घाटियों, पर्वतों, फल-फूलों, बागों आदि को काव्य का जामा पहनाया गया है। इस रचना में पदे-पदे कश्मीर की नैसर्गिक सुषमा के बहुरंगी चित्र खींचे गये हैं। रचना का भाव पक्ष बड़ा ही मनमोहक है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है-- *"तुषार जड़ित पर्वत/सुंदर सब्ज़ बनानी/दूर क्षितिज पर/पहाड़ों के पीछे/निर्मल नीला आकाश/ कभी न रुकता/ कभी न थकता/ पहाड़ी दरिया"*

कश्मीर की उभरती हुई कवयित्री **शबनम**

आज़ाद कृत मेरे कश्मीर के बिखरे रंग में "सफेद चादर" शीर्षक कविता संकलित है, जिसमें शिशिर-ऋतु में हिमपात के फलस्वरूप बर्फ़-रूपी चादर द्वारा घाटी के परिवर्तित परिदृश्य का सुंदर चित्रण किया गया है। शरद की शाँत रात के बाद एक नया सवेरा होता है और चारों ओर सफ़ेद बिछोना बिछा हुआ दृष्टिगत होता है- *"रात बीत गई, हुआ है नया सवेरा/सफेद चादर ने चारों ओर बिछाया है डेरा।/चारों तरफ बच्चों का शोर है/कितनी प्यारी आज की भोर है।"*

प्रकृति-चित्रण के संदर्भ में अधिकतर कश्मीर-केंद्रित कविताओं का भाव-बोध और शिल्प या तो छायावादी रहा है अथवा प्रयोगवादी। साथ ही इन कविताओं में प्रायः मानवीकरण अलंकारों का प्रयोग बहुत सहज रूप में किया गया है। कश्मीरी शब्दों के निःसंकोच प्रयोग ने कविता में जिज्ञासा को और भी पुष्ट किया है। कुछ कविताएँ तो पाठक को हिन्दी में कश्मीरी भाषा की मिठास का सुखद अनुभव भी करा देती हैं। इस प्रसंग में वर्तमान के हिंदी जगत की प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती चंद्रकांता का नाम लिया जा सकता है। कश्मीर की प्रकृति पर कविता-कर्म करने वाले अनेक कवि हैं, जिनमें उपर्युक्त कविगण विशेष रूप से प्रमुख है। आलोच्य कवियों के अतिरिक्त अनेक कवियों ने घाटी के बाह्य सौंदर्य से प्रेरित हो काव्य-रचना की है, जिनमें समकालीन कवि-विशेष यथा-हंसराज भारती, आलोक श्रीवास्तव, चंचल डोगरा, आशमा कौल, निर्मल विनोद आदि की कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

188 जवाहर नगर
श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर)-190008
मो. 8825085547
ईमेल-umarku121@gmail.com

●

आत्मश्लाघा से बचिये

राम रावण युद्ध का प्रसंग है। रावण जब डींग हांकने लगा तो भगवान राम ने क्षमा मांगते हुए नीति-वचन कहे– 'व्यर्थ बकवास कर यश का नाश न करो। क्षमा करना– मैं नीति सुनाता हूँ– तीन तरह के पुरुष होते हैं, पहला गुलाब की तरह । गुलाब में फूल होते हैं– इसी प्रकार जो बकवास करते हैं। दूसरा होता है– आम की तरह। आम में फूल भी हैं और फल भी। इसी प्रकार जो कहता भी है तो करता भी। तीसरा होता है– कटहल की तरह। कटहल में फूल नहीं होते– फल होते हैं। इसी प्रकार जो कहता नहीं – केवल करता है।'

यानी रावण को राम ने समझाया गुलाब की तरह बनकर बकबक करना बंद करो। ऐसे लोग अधम होते हैं। मध्यम दर्जे के वे हैं जो कहते हैं, पर करते भी हैं। उत्तम वे हैं– जो कहते नहीं, करके दिखाते हैं।

'जनि जल्पना करि सुजसु नासहि।'

अपने यश का बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करना अपने यश को नष्ट करना है। महाभारत में भगवान कृष्ण का संदेश है–'आत्मश्लाघा आत्महत्या है।' आत्मश्लाघा– अपने मुँह मियां मिट्ठू बनना। यही तो मौत है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में समस्यामूलकता

डॉ. विक्रम सिंह

समस्यामूलक उपन्यास, जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है किसी समस्या विशेष पर केन्द्रित रहता है। समस्या पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, पारलौकिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। समस्यामूलक उपन्यास में उपन्यासकार समस्या का बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। समस्यामूलक उपन्यास एक या एक से अधिक समस्याओं को आधार बनाकर लिखा जा सकता है। ऐसे प्रत्येक उपन्यास में अनिवार्यतः अपने युग की समस्याओं का प्रतिबिम्ब मिलता है और समस्या विश्लेषण का प्रश्न मुख्य होता है, अन्य तत्व तो समस्या चित्रण हेतु गढ़े जाते हैं। "समस्यामूलक उपन्यास वे उपन्यास है जिनमें सम-सामायिक जीवन की एक या एक से अधिक समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। समस्यामूलक उपन्यासकार समस्या का निरूपण इस प्रकार करता है कि पाठक को समस्या के समाधान हेतु विचार करने को बाध्य होना पड़े। समस्या का समाधान भी कभी-कभी प्रस्तुत कर देता है, परन्तु वह सदा अनिवार्य नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं, "लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्तन परिस्थितियाँ खड़ी होती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"[1] प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं, "अब वह (साहित्य) केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाताः किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है।"[2] अपने युग की समस्याओं के प्रति लेखक को उदासीन नहीं रहना चाहिए, यही उपन्यासकार का युग-धर्म है। उसे अपने समय की समस्याओं का प्रस्तुतिकरण करना चाहिए। समस्यामूलक उपन्यासकार को कला का उपयोगितवादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। उसका उद्देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे मात्र व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हैं, किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को एवम आवश्यकताओं को सम्मुख नहीं रखते। समस्यामूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द का आविर्भाव एक युगान्तरकारी घटना थी। इन्होंने

पहली बार उपन्यास के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य को पहचाना, उसे जीवन के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित किया तथा एक नई गति और दिशा प्रदान कर प्रौढ़ता की सीमा तक पहुँचाया। व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर प्रेमचन्द ने जो देखा और अनुभव किया उसे सच्चाई के साथ अपने उपन्यासों में प्रतिबिम्बित किया। वे साहित्य को महज मनोरंजन की चीज नहीं मानते। उनके अनुसार, "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो एवम् सौन्दर्य का प्रकाश हो।"[3] "वे मानते थे कि समाज में होने वली क्रान्तियों, आन्दोलनों एवं हलचलों से बेखबर तथा समाज के दुःख-सुख से अप्रभावित रहते हुए अपने ही कल्पना लोक में विहार करने वाले साहित्य के लिए, अमीरों और सेठ साहूकारों का मजाक बनकर जीवन यापन करने वाले साहित्यकारों के लिए इस दुनिया में कोई जगह नहीं है।"[4] *प्रेमचन्द ने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कोई न कोई प्रमुख समस्या मिलती है। प्रमुख समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं की झलक प्रायः उनके उपन्यासों में विद्यमान है। "वे समाज-व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सहलाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।"*[5]

'वरदान' प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचना है। वरदान में एक पारिवारिक कहानी है, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं के साथ अभावग्रस्त ग्रामीण जीवन तथा राष्ट्रसेवी भावों से अवगत कराया है। वरदान में प्रताप और विरजन की असफल प्रेम कहानी की दुःखान्त कथा है। अमीर लड़की विरजन का गरीब लड़के प्रताप से विवाह न हो सकना, विरजन की मानसिक अशान्ति, कमला की मौत तथा माधवी का ऐकान्तिक प्रेमोन्माद और अन्त में प्रताप का समाजसेवी त्यागी जीवन आदि उपन्यास के मुख्य बिन्दु हैं। डिप्टी श्यामचरण के स्वाभिमानी चरित्र को उद्‌घाटित कर प्रेमचन्द राष्ट्रीय आत्मप्रतिष्ठा की भावना को उकसाते हैं। विरजन द्वारा कमला को लिखे गए पत्रों के माध्यम से वे समाज पर अपनी दृष्टि गड़ाते हैं। इसी प्रकार ग्रामीण अन्धविश्वास, पुलिस की अकर्मण्यता, अत्याचार और रिश्वतखोरी, साहूकारों और जमींदारों की ज्यादतियों के चित्र विरजन के पत्र के माध्यम से प्रकाश में आते हैं।

'प्रतिज्ञा' विधवाओं व पति-पत्नी के पारिवारिक सम्बन्धों और अछूतों की समस्या पर लिखा गया है। इसमें पात्रों के मनोभावों का सूक्ष्म चित्रण है! सुमित्रा अपने को विधवा पूर्णा से भी अधिक भाग्यहीन मानती है। वह पूर्णा से कहती है "मेरा विवाह तो इस महल से हुआ है। लाला बदरी प्रसाद की बहू हूँ इससे बड़े सुख की कल्पना कौन कर सकता है? भगवान ने किसलिए मुझे जन्म दिया, समझ में नहीं आता। इस घर में कोई अपना नहीं है, बहन ! मैं जबर्दस्ती पड़ी हुई हूँ, मेरे मरने-जीने की किसी को परवा नहीं।"[6] इस वाक्य से सुमित्रा का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व जाहिर है । वह हमेशा पति का प्रेम पाने को लालायित रहती है-- "पति के हृदय को पाने के लिए वह नित्य नया सिंगार करती थी और इस अभीष्ट के पूरा न होने से उसके हृदय में ज्वाला-सी दहकती रहती थी।"[7] "प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में एक सामाजिक समस्या को सुधारवादी ढंग से सुलझाने की कोशिश की है।"[8]

सेवासदन में नारी जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित किया गया है। भारतीय नारी की पराधीनता, दहेज-प्रथा, वेश्या-जीवन आदि । सुमन 'सेवासदन' की नायिका है। सम्पूर्ण उपन्यास उसी के इर्द-गिर्द घूमता है। 'सेवासदन' में समस्या को प्रधानता दी गई है, चरित्रांकन को नहीं क्योंकि प्रेमचन्द का अभीष्ट भारतीय नारी की पराधीनता-जनित विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन था। चाहे 'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं, "इस उपन्यास का सबसे कमजोर शिथिल

और असम्बद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों की, अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनके तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य रूप से संबद्ध नहीं ज्ञात होता ।"[9] परंतु यदि इस प्रसंग का समावेश नहीं किया जाता तो नगर-जीवन की समस्या पर प्रकाश नहीं पड़ता। दूसरे वेश्या-समाज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व म्युनिसिपैलिटी का है। अतः ये समाज की इस कुरीति को दूर करने में महत्वपूर्ण भाग ले सकते हैं।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में प्रमुख समस्या भूमि समस्या है। वर्ग संघर्ष को इतने यथार्थ रूप में उपस्थित करने वाला यह प्रथम उपन्यास है। डॉ. रामरतन भटनागर ने 'प्रेमाश्रम' को हिन्दी का ही नहीं वरन् भारत का पहला राजनीतिक उपन्यास कहा है।[10] "बड़े कलाकार अपने फायदे के लिए कायदे-कानून बनाते हैं। प्रेमचन्द भी कायदे पढ़कर उपन्यास लिखने न बैठते थे। 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की जिन्दगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में जगह न मिलती थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।"[11]

'निर्मला' उपन्यास में नारी पराधीनता की समस्या चित्रित की गयी है। पुरुष-प्रधान समाज में जहाँ अर्थोपार्जन का एकाधिकार पुरुष के हाथ में है, वहीं नारी की स्थिति खरीद-फरोख्त की चीज जैसी है, जिसने दहेज जैसी परम्परा को जन्म देकर नारी को पराधीन बनाया है। 'निर्मला' मध्यवर्गीय हिन्दू-समाज की प्रतिनिधि दलित नारी बनकर हमारे सामने आती है। 'सेवासदन' की सुमन पर उसके पति ने पर-पुरुष से सम्बन्ध का आरोप लगाया था, लेकिन निर्मला पर वृद्ध पति तोताराम का आरोप पुत्र से व्याभिचार का है, यह अपेक्षाकृत अधिक त्रासद है। प्रेमचन्द यह जानते हैं कि अनमेल-विवाह, जिसकी जड़ में दहेज की कुप्रथा है, के कारण नारी को आजीवन उन असंगत परिस्थितियों का शिकार बनना पड़ता है जो वास्तव में उसकी दैहिक एवं सामाजिक जरूरतों के प्रतिक्रिया स्वरूप उपजती हैं।"[12]

'रंगभूमि' के संबंध में डॉ. रामरतन भटनागर ने लिखा है, "वास्तव में 'रंगभूमि' में स्वतंत्रता-पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याएँ आ जाती हैं। ऐसी विषद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की।[13] 'रंगभूमि' औद्योगीकरण के दुष्परिणामों को रेखांकित करने वाला उपन्यास है। इसके माध्यम से यह बताने का प्रयास है कि औद्योगीकरण से सामंतों और व्यापारियों का कोई नुकसान नहीं होगा। बल्कि कृषि-संस्कृति के अवमूल्यन का दुःख किसानों को ही भोगना पड़ेगा। औद्योगिक युग का आगमन एक युगीन आवश्यकता है इसलिए तमाम गाँधीवादी विरोधों के बावजूद उसकी विजय होती है, जो पूँजीवाद के भविष्य का पूर्व संकेत है।

'कायाकल्प' उपन्यास में सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। सामाजिक क्षेत्र में विवाह और प्रेम की समस्या प्रमुख है। राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं और जागीरदारों की संस्कृति की वास्तविकता का उद्घाटन करना मुख्य लक्ष्य है तथा साम्प्रदायिक क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या प्रमुख है। इन समस्याओं पर प्रेमचन्द के समस्यामूलक विचार प्रस्तुत उपन्यास में जगह-जगह बिखरे हुए हैं।

'गबन' में सामाजिक समस्या का अलग स्वरूप है। डॉ. रामरतन भटनागर के अनुसार, "गबन प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजिक उपन्यासों में श्रेष्ठतम है। हमने इस उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है, परन्तु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का यह रूप एक अत्यनत व्यापक समस्या का ही अंग है।

यह समस्या है वर्ग-गत असन्तुलन की। गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं। हमारे इस पूँजीवादी समाज की सारी व्यवस्था वर्ग की विभिन्नता पर ही आश्रित है।"[14] 'गबन' मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं का उपन्यास है। मध्यमवर्गीय परिवारों में जो दिखावा और ढकोसला पाया जाता है, वह गबन में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है।

'कर्मभूमि' की मुख्य समस्या स्वाधीनता की है। अछूतों और किसानों की समस्याएँ उसी का ही अंग बनकर आती हैं। शैक्षणिक समस्या का भी उद्घाटन उपन्यास में किया गया है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द का यथार्थवाद अपने उत्कृष्ट रूप में उपस्थित हुआ है। इस उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों का कलात्मक संयोजन किया गया है।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने एक ओर ग्रामीण-जीवन, विशेषकर भारतीय कृषक-जीवन का यथार्थ-चित्रण किया है तो वहीं दूसरी ओर शहरी-जीवन की भौतिकतावादी विडम्बनाओं पर भी प्रकाश डाला है। हमारे देश के भीतर नागरिकों के देश में तीन प्रमुख जीवन स्तर हैं। उनमें एक तो वह है, जो शहरों में रहता है और भारतीय होकर भी अपने को भारतीय कहने में शर्माता है तथा दूसरा वह है जिसके अंदर गाँवों अथवा देहातों के सबसे बड़े भारतीय जन-समूह का जीवन है, जहाँ पर ही सच्चा भारत निवास करता है और एक वर्ग पटवारियों तथा सरकारी कर्मचारियों का है जो रहता तो देहातों में है, परन्तु अपने को शहरी ही मानता है। इन सबका यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।"[15] 'गोदान' की मुख्य समस्या किसान के जीवन की समस्या है। अभावग्रस्त किसान के जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। ऋण के बोझ के कारण भारतीय किसान किस तरह पिस जाता है, यही 'गोदान' का केन्द्र बिन्दु है। होरी ऐसे ही किसान का प्रतीक है।

प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में किसी-न-किसी समस्या को प्रमुख स्थान मिला है। उनके सभी उपन्यास समस्यामूलक ठहरते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने समय और समाज की सच्ची तस्वीर खींची है। सम-सामायिक सामाजिक-राजनैतिक आदर्श-मान्यताओं के प्रभाव ने प्रेमचन्द के यथार्थ को आदर्शोन्मुख बनाया । प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय समाज का दर्पण है। प्रेमचन्द साहित्य में किसान, महाजन, वकील, जमींदार, राजे-महाराजे, अछूत, बुद्धिजीवी आदि समाज के सभी वर्गों और सभी स्तरों के लोग मिलते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में जन-जीवन का सूक्ष्म एवं यथार्थ वर्णन किया है। सामाजिक समस्याओं को उठाकर उनको समझाने का प्रयास किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द को शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित किसान की आवाज तथा उपेक्षित और असहाय नारी जाति का जबरदस्त वकील कहा।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में उठाई गई समस्याओं से स्पष्ट होता है कि उनके प्रायः सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 536। **2.** कुछ विचार, प्रमचंन्द, पृ. 8। **3.** साहित्यावलोकन, पृ. 144। **4.** कुछ विचार, प्रेमचन्द, पृ. 232। **5.** साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, पृ. 20। **6.** प्रतिज्ञा, प्रेमचन्द, पृ. 51। **7.** प्रतिज्ञा, प्रेमचन्द, पृ. 62। **8.** प्रेमचन्द : जीवन 'कला' और कृतित्व, हँसराज रहबर, पृ. 171। **9.** कथाकार प्रेमचन्द, पृ. 202। **10.** हिन्दी उपन्यास, पृ. 105। **11.** प्रेमचन्द और उनका युग, पृ. 42-43। **12.** निर्मला, प्रेमचन्द, पृ. 97। **13.** प्रेमचन्द और उनका युग, पृ. 60-61। **14.** प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 141-142। **15.** 'प्रेमचन्द' में संकलित, डॉ. त्रिभुवन सिंह का निबन्ध आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, सं. सत्येन्द्र, पृ. 110।

असि. प्रो. (हिन्दी विभाग)
हर्ष विद्या मन्दिर (पी.जी.) कालेज
रायसी, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) - 247671
मो. - 9412825205

समकालीन महिला कहानी लेखन : विविध सरोकार

डॉ. सुरेश सिंह राठौड़

साहित्य में आज विभिन्न प्रकार के विमर्शों का दौर है जिसमें स्त्री विमर्श, दलितविमर्श, आदिवासी विमर्श अपनी विशिष्ट पहचान बना चुके हैं वहीं, किसान विमर्श और किन्नर विमर्श साहित्य के द्वार पर दस्तक देने को तैयार हैं। स्त्री विमर्श के अंतर्गत महिला कथाकारों ने स्व-पीड़ा को बेबाक रूप से अभिव्यक्त किया है। यदि साफ़गोई से बात करें तो समकालीन स्त्री लेखिकाओं ने समाज की वर्जनाओं को तोड़ने का सफल प्रयास 20 वीं शताब्दी के अंतिम दशकों से ही प्रारम्भ कर दिया था। **जयश्री रॉय, सोनाली सिंह, अल्पना मिश्र, गीता श्री, वन्दना राग, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शिल्पी, नीलाक्षी सिंह, वन्दना शुक्ल, ज्योति चावला** जैसी लेखिकाओं ने स्व-पीड़ा के रूप में स्त्री समाज की पीड़ा को बेबाक अभिव्यक्ति दी है। उक्त लेखिकाओं ने समाज के सड़े-गले, मैले-कुचले अंगों को समाज के सामने लाकर दूर करने का सफल प्रयास किया है। इन लेखिकाओं के लेखन की खास बात यह है कि समाज में दोयम दर्जे का जीवन जी रही महिलाओं के शोषण का यथार्थवादी चित्रण किया है, जहाँ वे स्वतंत्रता से लेकर स्वच्छंदता की बात करती हैं और इतनी साफ़गोई से कि परपुरुषों से रहे अपने अंतरंग संबंधों के बारे में भी बेहिचक बयान करती हैं।

समकालीन स्त्री लेखन के विविध सरोकारों पर चर्चा करने से पूर्व हमें उन कारणों की पड़ताल करनी चाहिए जिनके कारण 20 वीं शताब्दी की कहानी में ये क्रांतिकारी बदलाव आये और पूरे रचना संसार को जिन्होंने बदल दिया। जब साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है तो निस्संदेह ये बदलाव यकायक नहीं आये अपितु बहुत से कारणों ने लेखन को प्रभावित किया। "पाठकों, आलोचकों और संपादकों का मानना है कि हिंदी कहानी में बदलाव दिखने का खास समय जिन घटनाओं, दुर्घटनाओं और परिघटनाओं से मिलकर बना है, वे हैं-- अयोध्याकाण्ड, भारतीय राजनीति में नए गुणा-भाग, भूमंडलीकरण, मुक्तपूंजी का उद्दंड हस्तक्षेप, विचार विलोप, विस्थापन, अस्मिताओं का उभार और सामाजिक न्याय की बलवती इच्छा आदि, अर्थात् दो दशक से कुछ अधिक का पिछला समय। जाहिर है इस समय ने पूरे रचना संसार को आंदोलित किया।"[1]

आज की कहानियों द्वारा आधुनिक जीवन शैली में दोहरी भूमिका निभाते हुए स्त्री घर और बाहर किस तरह से तालमेल बैठा रही है, बाहर उसे किन-किन स्थितियों का सामना करना

पड़ता है, वह कैसे इंटरनेट के इस युग में भी अपनी भारतीय संस्कृति का पालन करती हुई अपना जीवन यापन कर रही है, वर्णित हैं। एक ओर भारतीय संस्कृति है तो दूसरी ओर आधुनिकता, परंतु वह इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करती हुई मॉल संस्कृति का लुत्फ़ भी उठा रही है। आज की लेखिकाओं के अनुभव का दायरा विस्तृत है, उसका दृष्टिकोण और सोच का फ़लक व्यापक है जिसके कारण वह बेबाकी से अपनी निजी समस्याओं को भी अपने सर्जन का आधार बना रही है। आज की स्त्री सपने बुनना, आत्मनिर्भर होना, रूढ़िवादी परंपराओं के प्रति प्रतिकार कर, परिवार व बच्चों के लिए नए आदर्श प्रस्तुत कर रही है। आज की स्त्री पुराने युग की स्त्री से भिन्न भूमिका और सोच लेकर चल रही है। आज वह अपने आप से प्यार करती है, उचित हो या अनुचित उसे समाज की मोहर की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि समाज की दृष्टि में उसका आचरण गलत है, अनुचित है तो भी अग्निपरीक्षा से गुजरना उसे गंवारा नहीं है क्योंकि उसे सतीत्व के प्रमाण पत्र की आवश्यकता नहीं है। वह जानती है कि स्त्री की अपनी सीमाएं है और पुरुष की अपनी। इसलिए वह पुरुष की 'बंदिनी' नहीं 'संगिनी' बन कर जीना चाहती है। उसे मालिक नहीं जीवन साथी चाहिए। जीवन साथी भी ऐसा जो उसके अधिकारों को जाने और महत्व दे, उसके सपनों को आकार दे, उन्मुक्त गगन में ऊँची उड़ान भरने की आजादी दे। इसी दृष्टिकोण को लेकर ये लेखिकाएं स्त्री मन को अपने पात्रों द्वारा अभिव्यक्त कर रही हैं या यों कहा जा सकता है कि ये लेखिकाएँ स्त्री मन का ई.सी.जी., एक्स-रे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहीं हैं। ये कहानियाँ अपने समय के हर एक पक्ष, हर एक स्थिति को समेट कर चल रही हैं। समाज, राजनीति, धर्म, सांस्कृतिक विघटन, आर्थिक पक्ष इन सभी को व्यापक संदर्भों में प्रस्तुत कर रही हैं। आज की जीवन स्थिति का कटु यथार्थ जितनी अधिक सूक्ष्मता और गहराई से इन कहानियों में आया है वह किसी और साहित्यिक विधा में उभर कर नही आया है।

समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में आता बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। महिला कहानीकारों ने समाज को प्रभावित करने वाले प्रत्येक क्षेत्र को अपनी कहानी की विषय-वस्तु बनाया है। कोई भी ऐसा विषय अछूता नहीं रहा है जिस पर इन कहानीकारों ने अपनी कलम नहीं चलायी हो चाहे वो देश और सुरक्षा का विषय हो, दल-बदल राजनीति हो, आर्थिक क्षेत्र से जुड़े मुद्दे हों या फिर दाम्पत्य के टूटते-बनते रिश्तों के विषय हों, इन सब विषयों को अपनी कहानियों में लिया है।

अपनी लिखने की प्रतिबद्धता को इंगित करती हुई **जयश्री रॉय** लिखती हैं-- "जबतक धड़कती हुई जीवनानुभूतियों के शब्द न दे दूं, तब तक इस मधुमय पीड़ा से मुक्ति नहीं, मुझे लिखनी है उन सपनों की बातें, जो पलकों पर अदेखे ही पड़े रह गए जीवन भर या उन कलियों की पीड़ा, जिन्होंने गुंचों में पड़े-पड़े न जाने कब तक बाहर की राह तकी है, पल गुने, बाट जोही है, लेकिन अंत तक खिलना नसीब नहीं हुआ। जिन अभागों के प्रति इस संसार में किसी की जबाबदारी नहीं बनती, उन्हें स्वर देना, मुक्ति का एक आकाश देना या एक बहुत छोटी-सी सही, उम्मीद देना ही वस्तुतः मेरी कलम का एक मात्र उद्देश्य है।"[2] वे अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखती हैं "आस-पास के वातावरण में व्याप्त भ्रष्टाचार और पाप ने मुझे उद्वेलित और उद्विग्न किया है"... अपने आस-पास इतना अन्याय, अत्याचार होते देखकर भी कुछ न कर पाने की ग्लानि हृदय को कचोटती रहती है।"[3]

कहा जा सकता है कि आज का महिला लेखन नारी की अस्मिता व उसकी स्वतंत्रता की खोज का लेखन है जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही है। स्त्री के इस लेखन में स्त्री की नयी सोच,

नवीन जीवन दृष्टि और नवीन भाषिक संरचना की पहचान हुई है। आधुनिकता के इस युग में वह पुरानी परंपराओं और मान्यताओं को तोड़ अपने अनुकूल नए मानदंडों को निर्मित कर रही है, जहाँ स्वतंत्रता ही उसके लिए सब कुछ है। यह स्वतंत्रता उसे सामाजिक दायरों और अपनी दैहिकता से भी चाहिए। वह अपना जीवन अपने अनुसार जीना चाहती है। ये सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दायरों के खांचे में बंधा रहना नहीं चाहती है अपितु बदलते समय की रफ्तार को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए, भविष्य की ओर बढ़ना चाहती हैं और सामाजिक बंधनों से उन्मुक्त होकर खुले आसमान में विचरण करना चाहती हैं। प्रसिद्ध महिला कथाकार **मन्नू भंडारी** का मानना है कि आज की पीढ़ी अपना व्यक्तित्व बनाने में जुटी हुई है। हमारी पीढ़ी ने अपनी एक स्वतन्त्र पहचान ही नहीं बनायी, समाज को उसका अहसास भी कराया। हमारी पीढ़ी का व्यक्तित्व आधुनिकता से सराबोर है लेकिन व्यवहार से आज भी संस्कार हमारा पल्ला पीछे खींचते रहते हैं। इसीलिए हम एक दोहरी जिन्दगी जीने को अभिशप्त हैं। आज की पीढ़ी अपेक्षाकृत अधिक इकहरी जिन्दगी जीती है क्योंकि आत्मविश्वास से भरी इस पीढ़ी ने पुरानी जड़ परंपराओं से काफी हद तक अपने को मुक्त कर लिया है।

21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामाजिक शक्तियों ने जैसा जटिल, संश्लिष्ट और साथ ही क्रूर स्वरूप ग्रहण किया वह अभूतपूर्व है। इस दौर में उदारीकरण, भूमण्डलीकरण और निजीकरण हावी होता जा रहा है। फलतः वर्तमान सामाजिक परिवेश बुरी तरह विषाक्त होता जा रहा है। आपसी सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता, करुणा आदि जैसे आदर्श जीवन मूल्यों की जगह असहयोग, विद्वेष, स्वेच्छाचारिता, स्वार्थपरता, हिंसा, हृदयहीनता, साम्प्रदायिकता, लूटपाट, भ्रष्टाचार आदि दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ रहे हैं। आज की कहानियों में महानगरीय जिंदगी की भयावहता के प्रति आक्रोश उभरकर आया है। लेखिकाएँ जानती हैं कि उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार ने मनुष्य के सरोकारों को बदल दिया है। आज उदारीकरण हमारी युवा पीढ़ी के समक्ष एक चुनौती बनकर उभरा है। उदारीकरण और बाजारीकरण के कारण युवा वर्ग मानसिक रूप से विकलांग हो गया है। क्रेडिट कार्ड, ऑनलाइन शॉपिंग, मॉल संस्कृति, मेगा सेल ऑफर, होम डिलेवरी जैसी तथाकथित सुविधाओं ने युवाओं को मानसिक रूप से पंगु बना दिया है और वे बाज़ार की अंधी दौड़ का हिस्सा बन गए हैं। उदारीकरण, बाजारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव से शहरों में ही नहीं गाँवों में भी स्पष्ट रूप से बदलाव नजर आ रहा है। इससे कुछ भी अछूता नहीं है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य की जीवन शैली एवं व्यवहार में परिवर्तन रेखांकित किया जा सकता है। महानगरों में व्यक्ति स्वयं को अकेला महसूस कर रहा है। रिश्तों का आकार सिकुड़ गया है और महत्व लघु हो गया है। जिंदगी में रिश्तों के बजाय अर्थ का महत्व बढ़ गया है। निजीकरण के कारण 'टारगेटबेस' जिंदगी जीने वाला युवा परिवार से निरंतर कटता जा रहा है जिसके परिणाम स्वरूप एकाकीपन के कारण अवसाद का शिकार हो जाता है और उसकी सहनशक्ति क्षीण हो जाती है तथा छोटी-सी समस्या के सामने ही हार मानकार अपनी इहलीला समाप्त करने पर भी आमादा हो जाता है।

युवा लेखिका **अल्पना मिश्र** अपनी कहानी **'मुक्ति प्रसंग'** में बताती हैं कि महानगरों की उबाऊ दिनचर्या से व्यक्ति स्वयं को जैसे भूल ही चला है। "क्या डॉ. साहब के लिए यह दिनचर्या इतनी महत्वपूर्ण, जिसके आगे वे नातों, रिश्तों, व्यक्ति और समाज को बौना करके देखते हैं?"[4] यह अकेलापन आज भी हम सभी के बीच में विद्यमान है। भीड़ और अर्थ में खोया हुआ मनुष्य वास्तव में तब और अधिक खो जाता है जब वह अपने-परायेपन के कारण अपने

से भी अलगाव महसूस करने लगता है। व्यक्ति की अपने से भी अलगाव की स्थिति बड़ी भयावह स्थिति है। महानगरीय जीवन में मानवीय संबंध इतने ऊपरी हो जाते हैं कि कोई आन्तरिक संबंध नहीं जुड़ पाता है। औद्योगीकरण तथा मशीनीकरण के परिणाम-स्वरूप आज शहरी जीवन में बड़े पैमाने पर आ रहे परिवर्तनों के कारण मनुष्य संवेदना शून्य होता जा रहा है तथा भीड़तंत्र का हिस्सा बनकर उसी भीड़ में अपने अस्तित्व को खो देता है।

समकालीन लेखिकाओं में व्यवस्थाओं के प्रति तीव्र रोष है। आज युगीन व्यवस्थाओं में सर्वत्र अनियमितताओं व अव्यवस्थाओं को देखा जा सकता है। भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, शोषण, धार्मिक उन्माद, भ्रष्टाचार, पाप, अन्याय, अत्याचार जैसी समस्याएँ देश के सम्मुख मुंह बांये खड़ी हैं। इन व्यवस्थाओं के प्रति जहाँ आम व्यक्ति चिंतित सा दिखाई देता है वहीं यह चिंता समय-समय पर महिला साहित्यकारों में भी दिखाई देती है। वस्तुतः लेखन अपने आस पास की परिस्थितियों की ही उपज होती है जिसे लेखक अपने शब्दों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति देते हैं।

सावित्री रांका की कहानी **'ममता'** में धर्म के नाम पर कुछ स्वार्थी लोगों द्वारा नौजवानों को जिस तरह से बरगलाया जा रहा है उसकी मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। कहानी की विशेषता यह है कि एक माँ की व्यक्तिगत पीड़ा को साझी पीड़ा बनाकर चिन्ता व्यक्त की गई है। "यह पागलपन कहाँ जाकर ठहरेगा। जीने के लिए वैसे ही कितनी समस्याएं हैं, फिर राम और रहीम के ये अनुयायी बेरहमी से विनाश के बीज क्यों बो रहे हैं। किस भगवान की प्रसन्नता के लिए हो रहा है। यह सब अत्याचारों के दिल दहला देने वाले समाचार पढ़-पढ़कर, कलेजा काँप उठता है। धर्म की रक्षा का कैसा तरीका है यह।" धर्म की आड़ में लोग अपने हाथ सेक रहे हैं। ऐसे धर्मलोलुप व्यक्तियों के बहकावे में आकर यह पीढ़ी अपने मार्ग से भटक रही है, परिवार के परिवार तबाह हो रहे हैं। इसी पीड़ा को रेहाना अपने 14 वर्षीय पुत्र के अचानक घर छोड़कर जाने से भुगत रही है। उसे यकीन था कि उसका बेटा मजहबी हवा के बहाव में बहकर कट्टरपंथी बनकर ट्रेनिंग लेने अफगानिस्तान चला गया है, आज वह अपने आपको विवश व लाचार सी महसूस करती है। रेहाना अपने बेटे तारिक को ढूँढते हुए हत्या, बलात्कार जैसी घटनाओं को देखती है। "उद्विग्नता के अथाह सागर में गोता लगाते-लगाते जैसे यह सब कुछ उसके जीवन का हिस्सा बन चुका था। उसकी यह सोच की आतंकवादी बने युवक की माँ ममता से घायल हो बेहाल नहीं होती होगी क्या।"[5] लेखिका की यह सोच 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव को इंगित करती है, जहाँ सबके कल्याण की भावना निहित होती है। जनसेवा को ही अपने शेष जीवन का आधार बना लेती है। परंतु एक दिन उसे पता चलता है कि उसके बेटे को जेल हो गई है और अब मेरे बुढ़ापे का सहारा बूढ़ा होकर लौटेगा परंतु उसके लोक कल्याण के कार्यों में कोई बाधा या रुकावट नहीं आती है अपितु अत्यधिक साहस के साथ लोक सेवा से जुड़ जाती है। लेखिका ने इस कहानी के माध्यम से यह संदेश दिया है कि हमारे नौजवानों को किस दिशा की ओर ले जाना है? क्या सही है और क्या गलत? इसका आभास कराकर सचेत करती है। कहानी तुच्छ स्वार्थों के वशीभूत होकर सांप्रदायिकता एवं धार्मिक उन्माद पैदा करने वाले तथाकथित धर्म के ठेकेदारों, राजनेताओं और समाज सेवकों पर भी एक तमाचा मारती है कि हम राष्ट्र निर्माण के हित में क्या योगदान दे रहे हैं?

अल्पना मिश्र की कहानी **'छावनी में बेघर'** सैनिक जीवन के अनछूए पहलुओं को छूती है। कहानीकार का मानना है कि युद्ध में काम आने वाले सैनिकों की विधवाओं के साथ अमानवीय व्यवहार होता है। एक सैनिक देश के लिए शहीद होता है परंतु पीछे उसका परिवार दर-दर भटकता रहता है। कारगिल युद्ध में लड़ने गये सैनिकों के परिवारों को

उनके घरों से निकालकर छावनी में ही बने आवासों में ही जाना है ताकि वे सिविल में किराए का मकान ढूँढ सकें। इसके पीछे ऑफिसर का कहना है- "उन्हें घर देना प्राथमिकता है, इसलिए जब तक आपको सिविल में किराए का घर नहीं मिलता, हम आपको दो कमरे उपलब्ध करा रहे हैं। देश में शहीद होने वाले इन सैनिकों की विधवाओं के साथ अपमान जनक व्यवहार होता है।"

समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में आता बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। आज की बढ़ती मॉल संस्कृति के कारण नयी पीढ़ी जिस प्रकार से अंधाधुंध पैसा खर्च कर रही है तथा आवश्यकता से अधिक साज-सज्जा का सामान, वस्त्रादि जिस तरह से खरीदती है वह कहीं न कहीं फिजूलखर्ची के साथ-साथ दाम्पत्य जीवन में भी कड़वाहट भरती है। **शर्मिला बोहरा जालान** की कहानी **'कार्न-सूप'** में राजीव और उसकी पत्नी के बीच अत्यधिक शोपिंग के कारण विवाद होता है और दाम्पत्य जीवन में कड़वाहट का कारण बनती है। **शिल्पी** ने अपनी कहानी **'जहाज देखा क्या?'** में विवाह पूर्व देखे रंग-बिरंगे सपनों के साकार न होने के कारण रिश्तों में कड़वाहट आती है। 'जहाज देखा क्या' की लेखिका शिल्पी ने इस कहानी के माध्यम से बताया है कि विवाह उपरान्त भी आज की नारी अपने सपने बुनने का अधिकार रखती है। वह जिस जिन्दगी को छोड़ आयी है उसे पुनः जीना चाहती है। इसके लिए वह समाज में किसी का भी प्रतिकार करने से नहीं हिचकिचाती है। स्त्री स्वातंत्र्य को बताती **अल्पना मिश्र** की कहानी **'मुक्ति प्रसंग'** में घर की चारदीवारी से बाहर निकली, नौकरी पेशा और आजाद समझी जाने वाली स्त्री के संघर्ष और बिडंबनाओं को बखूबी उकेरा है। घर में पति हैं डा. साहब, जो हर वक्त उसकी देह से खेलना चाहते हैं तो घर के बाहर सुदर्शन जैसे युवा जिनकी जीभ से औरत को देखते ही लार टपकने लगती है। लेखिका प्रश्न उठाती है कि आखिर औरत जाये तो कहाँ? लेखिका का मानना है कि पुरुषों के लिए प्रेम का कोई गंभीर अर्थ नहीं है औरत उनके लिए केवल 'टाइम पास' है। बस में यात्रा के समय युवक सुदर्शन बातचीत के दौरान जब उसके बारे में पूछता है तो वह उसे डाँट देती है परंतु बस से युवक के उतरने के बाद वह उसकी तरफ आकर्षित होती है। "अपनी इस कुंठा को वो कुंठा तक नहीं कह पायी बल्कि इसे मन ही मन उन्होंने कुछ अलग तरह की मुक्ति का अनुपम राग माना।" इस प्रकार प्रस्तुत कहानी में एक ओर पुरुष वर्ग की काम वासना का चित्रण है तो दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त समाज की सोच से ऊपर उठने की चाह रखने वाली आज की नारी है जो स्वछंदता चाहती है। साथ ही नारी के अन्तर्मन में होने वाले द्वन्द्व को भी लेखिका ने भली-भाँति समझकर उसे अपनी कहानी में उकेरा है।

स्त्री मन के द्वन्द्व को **मनीषा कुलश्रेष्ठ** ने अपनी कहानी-संग्रह **'कठपुतलियाँ'** द्वारा बखूबी दार्शाते हुए बताया है कि हमारे समाज में एक स्त्री की स्थिति कहीं न कहीं कठपुतलियों के समान ही है, जिसकी डोर समाज, परिवार के लोगों के हाथों ने थाम रखी है। समाज के ये ठेकेदार नारी मन की थाह को नहीं समझ पाते, उसकी इच्छा, लालसा को महत्व नहीं देते। तेरह वर्ष की सुगना का विवाह तीस वर्ष के अपाहिज विधुर, दो बच्चों के पिता रामकिशन से हो जाता है। इससे पहले सुगना की शादी की बात दसवीं फेल जोगिन्दर से चलती है लेकिन लेन-देन की बात पर माँ रिश्ता तोड़ देती है और रामकिशन से उसका विवाह हो जाता है। पंद्रह की उम्र तक घर की पूरी जिम्मेदारी संभाल लेती है लेकिन बीच-बीच में उसे लगता है जैसे कि वह कठपुतली बन गई है-- "वह भी वैसे ही एक बावली कठपुतली है... जो डोरों से मन को विलग कर नया खेल रचती है। कुछ मौलिक ...कुछ अलग जो जीवन का विस्तार कर दे ... जिसमें उसकी अलग भूमिका हो, इन्तजार करती बीवी,

बच्चे पालती माँ से एकदम अलग। अपनी देहगन्ध से बोराती, अपने मन में संसर्ग का साथी चुनती एक आदिम औरत की-सी भूमिका। वह इन अनचाहे रिश्तों की डोरों से उलझकर थक गयी है।"[8] लेखिका ने यहाँ एक साथ कई समस्याओं पर हाथ रखा है जैसे स्त्री स्वतंत्रता, दहेज़ की समस्या, अनमेल विवाह, स्त्री की सहमति- असहमति का प्रश्न। स्त्री कोई पशु नहीं जिसे जब चाहे जिस खूंटे से बाँध दिया जाए। स्त्री स्वतंत्र होना चाहती है समाज से, समाज के लोगों की कुंठित हो रही सोच से, दकियानूसी विचारधारा से। इन बेड़ियों से मुक्त होने के लिए वह बगावत करने से भी नहीं डरती। किन्तु समाज के नियमों के परे कुछ करना एक औरत के लिए कितना असहनीय होता है, इस पीड़ा को लेखिका ने इन शब्दों द्वारा बखूबी उकेरा है-- "सुगना ने उत्तर में तेल मले हाथ आगे कर दिये। एक पंच ने पान का एक-एक पता उन नाजुक हथेलियों पर रखा और उन पर लाल, गरम ईंट रख दी गयी।"[9] **अल्पना मिश्र** के कहानी संग्रह **'भीतर का वक्त'** में स्त्री के अन्तर्मन में हो रहे परिवर्तन को सघनता और सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। आज की आधुनिक स्त्री अपनी लैंगिक वर्जनाओं की सीमा को लांघकर अपने व्यक्तित्व की खोज, बौद्धिक स्वावलंबन की ओर उन्मुख है। इस कहानी संग्रह के सभी स्त्री पात्र लैंगिक वर्जनाओं को तोड़ते नज़र आते हैं। आधुनिक स्त्री पवित्रता के फेर में नहीं पड़ती उसे दैहिक आजादी भी चाहिए। स्त्री आर्थिक रूप से भी पुरुष पर निर्भर नहीं रहना चाहती है। वह घर की चारदीवारी को तोड़ कर स्वयं कमाना चाहती है। इस प्रकार कहानी स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता के नये संवेदन संस्कार को भी अभिव्यक्त करती है। प्राचीन समय में स्त्री-जीवन का उद्देश्य विवाह एवं पारिवारिक जिम्मेदारियों का वहन था, किन्तु अब आधुनिक नारी इन सब परंपरागत धारणाओं से ऊपर उठ चुकी है। अब अबला नहीं है, उच्च शिक्षा प्राप्त कर वह आत्मनिर्भर व सबल बन रही है। नारी आज परंपरागत दायरे से बाहर निकलती नजर आ रही है।

समकालीन महिला कहानीकारों की कहानियों में स्त्री-स्वातन्त्र्य की सोच मुखर है। ये समकालीन कहानियाँ उन स्त्रियों के स्त्री-स्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व कर रही है जो रूढ़िवादी बंधनों व सोच से मुक्ति चाहती हैं और इस मुक्ति के लिए उसमें छटपटाहट है। वह समाज के उन दकियानूसी विचारों का पुरजोर विरोध करती है जो उन्हें एक खांचे में बाँध कर रखती है। **अल्पना मिश्र** की कहानी **'मुक्ति प्रसंग'** की स्त्री पात्र की यह सोच कि जब से नौकरी में आई हूँ, मेरी सोच बदलने लगी है। मैं जीवन से भागना नहीं लड़ना चाहती हूँ। अपने स्त्री होने का देह से अलग अर्थ तलाशना चाहती हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज की पीढ़ी अपना व्यक्तित्व बनानें में जुटी हुई है। **'अपेक्षा'** कहानी की मनीषा प्रेम और मुक्ति की बात करती है। मनीषा को दैहिक प्रेम की नहीं अपितु आत्मीय प्रेम की चाह है और इस प्रेम के लिए अपेक्षा करती रहती है कि उसे समाज और पति से आत्मीय प्रेम मिले। **पंखुरी सिन्हा** की कहानी **'वीकएण्ड का स्पेस'** में भी इसी आत्मीय प्रेम और मुक्ति की कहानी है। स्त्री स्वतंत्रता को आधार बनाकर कई कहानियाँ लिखी है-- जैसे- **'शहादत और अतिक्रमण' (वंदना राग), 'पापा, तुम्हारे भाई (शिल्पी), 'फुलबरिया मिसराइन' (प्रत्यक्षा), 'कठपुतलियाँ' (मनीषा कुलश्रेष्ठ), 'मुक्ति प्रसंग' (अल्पना मिश्र)।**

समकालीन महिला कहानीकारों ने बाजारवाद की संस्कृति और बदलते जीवन मूल्यों को भी अपनी कहानियों में उठाया है। आज नौकरी तंत्र ने प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक रूप से विकलांग कर दिया है। व्यक्ति व्यक्ति के मध्य ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि की प्रवृत्ति पनप रही है जो हमारी संस्कृति के लिए घातक है। 'टारगेट बेस' जिंदगी में व्यक्ति व्यक्ति का दुश्मन हो गया है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का स्थान 'टारगेट' ने ले लिया है। भूमंडलीकर और उदारीकरण के इस दौर में कामकाज के तौर-तरीकों में खासा बदलाव आया है

जिसके कारण जीवन मूल्य शुष्क हो गए हैं और अर्थ की प्रधानता बढ़ती जा रही है। "निजीकरण ने मनुष्य को बौना बनाने का एक अघोषित अभियान शुरू कर दिया हैं। अब निजी क्षेत्र में नौकरी पाने और उसमें बने रहने के लिए मनुष्य को छोटा बनना पड़ता है। वह जितना छोटा बनता है, उतना सफल होता है। इसके लिए उसे अपने लोगों, अपने मूल स्वभाव और अपने मूल्यों से दूर होना पड़ता है।"[10]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन महिला कहानीकारों ने समाज के विविध सरोकारों को अपने लेखन का आधार बनाकर सशक्त अभिव्यक्ति दी है। बाजारीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण के परिणाम स्वरूप उपजी समस्याओं को यह समाज के सामने रखता है तो दूसरी ओर यह स्त्री की उन्मुक्त उड़ान का साहित्य है जिसमें स्त्री की अस्मिता व उसकी स्वतंत्रता की खोज का लेखन है जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही है।

संदर्भ

1. सिद्धार्थ, सुशील, सं. हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग-1, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 10। **2.** वही, पृ. सं. 19। **3.** वही, पृ.सं 21। **4.** वही, पृ. 55। **5.** रांका, सावित्री, समय का सच कहानी संग्रह, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, संस्करण 2008 पृ.सं. 131। **6.** मिश्र, अल्पना, छावनी में बेघर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ.सं.101। **7.** सिद्धार्थ, सुशील, सं. हिंदी कहानीका युवा परिदृश्य भाग-1, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 57। **8.** कुलश्रेष्ठ, मनीषा, कठपुतलियाँ (कहानी संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ का, प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008। पृ.सं. 18। **9.** कुलश्रेष्ठ, मनीषा, कठपुतलियाँ (कहानी संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008। पृ.सं. 21। **10.** सिद्धार्थ, सुशील, सं. हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग-1, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014 पृ.सं 151।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय,
किशनगढ़, अजमेर (राज.)
मो. 9928344566
ई-मेल : drrathore76@gmail.com

आप ही अपने मित्र और शत्रु दोनों हैं

किसी आदमी ने अपने माँ-बाप की हत्या कर दी और वह इसे छिपाकर शहर की गली-गली में भटक कर कहता है – सहानुभूति बटोरने के लिए –

'भाइयों! मैं अनाथ हूँ। मेरे कोई नहीं, मैं विपदा का मारा हूँ। आप ही मेरे माँ-बाप हैं। मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।'

यह कहानी-सी है, पर जीवन की सच्चाई भी। प्रायः हम अपनी दुर्दशा के स्वयं कारण होते हैं। खुद अपने हाथ से ऊपर पत्थर उछाल कर अपना माथा नीचे करते हैं और सर फूटने के लिये दूसरों को दोष देते हैं। खुद बबूल के बीज बोते हैं और कांटों के लिए पराए के सिर बदनामी का भांडा फोड़ते हैं।

गीताचार्य ने कहा – 'आत्मा ही आत्मा का मित्र है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु।' यानी मेरा मित्र भी मैं हूँ और दुश्मन भी मैं।

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः। (गीता : 6-5)

इसलिए अपना उद्धार, अपना विकास-खुद करो, असंयमी होकर अपना नाश नहीं।

राजी सेठ के उपन्यासों में दुनिया के दस्तूर

डॉ. डी. एन. प्रसाद

जीवन की महागाथा में 'उप' का 'न्यास' बड़ा ही रोचक और मन के मनोरम भावों को उद्वेलित, उद्गारित तथा उद्भाषित करने में पुष्ट होता है। न्यास विश्वस्त का कारक तो होता ही है, परंतु वहाँ चालाकी से 'उप' उपसर्ग लगाकर 'न्यास' को विभाषित कर दिया गया है। इसलिए 'उपन्यास' समग्रता को समेटते हुए जीवन और जगत् की घटित स्थितियाँ हों या कल्पित कथा का कसाव, सब एक समाँ में बंधा होता है। समाँ का यह बंधन ही पाठक को कथारस से न्यासित कर देता है, यही एक उपन्यास की सफलता है। उपन्यास जीवन को खोलता है। हिंदी साहित्य की विविध गद्य विधाओं में उपन्यास सबसे लोकप्रिय विधा है। माना जाता है कि हिंदी में उपन्यास विधा आधुनिक काल की देन है। हिंदी में उपन्यास साहित्य की रचना की प्रेरणा बांग्ला साहित्य से प्राप्त हुई और बांग्ला उपन्यासकारों को उपन्यास की प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से प्राप्त हुई। अतिरिक्त इसके हिंदी उपन्यास विधा पर संस्कृत की आख्यायिकाओं एवं मध्ययुगीन प्रेम कहानियों का भी प्रभाव रहा। आरंभिक काल में उपन्यास-सृजन का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन था। अस्तु, कौतुहल-वर्धक, तिलिस्म, ऐय्यारी, जासूसी और साहसिक उपन्यासों की रचना होती रही। उपन्यास के विकासक्रम में प्रेमचंद का आना उपन्यास की दिशा और दशा में परिवर्तन लाता है। मानवतावादी विचारधारा में उपन्यास के आसमान में घर-आँगन का आकलन समा गया। इस आकलन के साथ क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ वैचारिक क्रांति ने मानव मन को परिवर्तित किया। नये जीवन मूल्यों में जीवन के अस्तित्व की तलाश शुरू हुई। साथ ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक अलग तरह की संवेदना उभरी। विभाजन का दर्द, भारत-पाक युद्ध का विघटनकारी प्रभाव, मोहभंग की स्थिति, पूँजीवाद का बढ़ता प्रभाव, अमेरिका का महाशक्ति बनकर उभरना आदि स्थितियों ने कथा साहित्य को बुनियादी रूप से प्रभावित किया। फलतः उपन्यास रचना की श्रृंखला में बाबू देवकीनंदन खत्री से फिर प्रेमचंद और प्रेमचंद के बाद समाजमनोवैज्ञानिक विश्लेषणवादी परम्परा में जैनेन्द्र कुमार तक आते-आते शहरीकरण ने मानवमूल्यों में भारी परिवर्तन आया। परिवार, समाज और संबंधों में टूटते मूल्यों की कीरच, प्रेम, प्रतिशोध और दाम्पत्य मूल्यों में विघटन के कारण अपनी-अपनी पहचान में 'सारा आकाश', 'अंधेरे बंद कमरे', 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' जैसी शहरी

संवेदना को उकेरने वाले उपन्यास आये। ग्रामीण संवेदना को उकेरने वाले 'मैला आँचल', 'परती-परिकथा', 'बलचनमा' जैसे उपन्यासों ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विचारधारा के साथ-साथ सांस्कृतिक पहचान की खबर भी ली। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास सांस्कृतिक परिदृश्य के परिवर्तित प्रतिफलन भी हैं। परिवर्तन-कामी दौर में परिदृश्य बदल चुका था। कथा लेखन में महिला उपन्यासकारों की उपस्थिति हो रही थी। इससे घर-आँगन की एक और अंतःसंवेदना उभर कर आ रही है। परिवर्तन की अनुगूँज में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा आदि ने स्त्री यथार्थ को कई कोणों से देखने और उस संदर्भ में प्रस्तुत करने का कार्य सम्पादित किया। समय, समाज और परिवेश का हर पक्ष यहाँ प्रस्तुत होने लगा।

स्त्री-संवेदना को उकेरने में महिला लेखिकाओं ने स्त्री-यथार्थ को जिस तरीके से व्यंजित किया है, वह संभवतः पुरुष लेखक अपनी अभिव्यक्ति में व्यंजित नहीं कर पाते। तेजी से बदलती परिस्थितियों ने उपन्यासों के तेवर को बहुआयामी बना दिया। अन्तस के उद्‌गार और उच्छ्वास को अब व्यक्त की जरूरत महसूस होने लगी, जिसे पुरुष लेखक नहीं कह पाया, वह महिला लेखिकाओं ने बिंदास कह दिया। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, दीप्ति खंडेलवाल, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, मालती जोशी आदि लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में अपने लिए अलग-अलग पहचान की इकाई बन कर आयी परंतु राजी सेठ ने अपने उपन्यासों में दुनिया के दस्तूर की बात की हैं। यही कारण है कि राजी सेठ के उपन्यासों में घर-आँगन, परिवार व समाज केन्द्रित विचार श्रृंखलाबद्ध रूप से मन की गाँठों को खोलते चलते हैं। राजी सेठ के उपन्यासों में घटित यथार्थ हो या कल्पना या इतिहास को कल्पना से बाँधने की कोशिश, ये सब कुछ इनकी संवेदना से जीवंत हो उठते हैं, जिसे किसी वाद के खेमे में बाँधकर देखना इनकी रचना की अवहेलना ही है। मुक्त संवेदना के दर्शन को लेकर समाज और परिवार में व्याप्त परिस्थितियों के बीच गम्भीर निर्णय के साथ खड़ी हैं उपन्यासकार राजी सेठ!

बाह्य घटित घटनाओं की आंतरिक अनुभूति की व्यापकता राजी के कथा साहित्य में विद्यमान है। जब तक अनुभूति की आग की जलन उन्हें महसूसती नहीं, वे कलम को हाथ नहीं लगाती और इसलिए भी देर से लिखना शुरू किया। घर-गृहस्थी, पति-परिवार और समाज की सामाजिकी के साथ सामंजस्य का निर्वहन करते हुए उनका स्त्री- मन अंतस की गहराई को मनोवेगों में बाँध कर खोल देना चाहता है। जब-जब यह चाह बनी, रचना प्राणवान हुई। जीवन-मूल्यों के बीच संघर्षरत पात्र विविध रूपों में दिखाई देते हैं जो इनके जीवनानुभव से उपजे होते हैं।

देर से लेखन करनेवाली राजी सेठ अकेली लेखिका हैं जिनको आशातीत सफलता मिली। इसका कारण है परिपक्व चिंतन से निकले अनकहे बोल, जिनके स्वर में सार्थक सच्चाई की मीठी आग ने पाठक को पल्लवित किया है। मात्र दो उपन्यासों की रचना ने इन्हें सफल उपन्यासकार की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया। चालीस पार के लेखन का प्रतिफल है **'तत-सम'** और उसके बाद **'निष्कवच'**। **'तत-सम'** राजी सेठ की पहली औपन्यासिक कृति है। यह एक आवेगजन्य अनुभूति के यथार्थ से उपजी कथा है, जिसमें एक नारी की अपनी देशीय सांस्कृतिक परिवेश को नकारने-स्वीकारने के द्वन्द्व में उसका 'स्व' निर्णय लेता है। यह एक प्रकार के सामाजिक दबावों में बौद्धिकता की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। जहाँ परम्परा और रूढ़ियों के बीच से एक सहज मार्ग अवलम्बित होता है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र 'वसुधा' का जीवन-निर्णय उसी सहजमार्ग का अनुसरण करता है। भारतीय परिवेश में विधवा-विवाह की सामाजिक समस्या में पुनर्विवाह एक चुनौती भरा निर्णय है और वह भी जब विवाह का निर्णय स्वविवेक का आनंद हो। *राजी सेठ ने बिना*

संकेत के संकेतित कर दिया है कि स्त्री कोई विमर्श की वस्तु नहीं है, उसका स्वविवेक अगर संतुलित है तो उसका अस्तित्व सामाजिक दायित्व में महत्वपूर्ण है।

'तत-सम' का प्रथम प्रकाशन राजकमल से 1983 में होता है और फिर बार-बार प्रकाशन होता है। अंग्रेजी सहित कई भाषाओं में अनुवादित होकर अपनी कथा-संवेदना को भाषा से परे सामाजिक मानवीयता से पाठक में स्पंदित करता है। 1985 में विचारणीय पाँच उपन्यासों में 'तत-सम' वरेण्य रहा और आज भी है क्योंकि यह उपन्यास व्यक्ति में शक्ति-सम्पन्नता का भेदक भाष्य भरता है। 1985 में ही 'तत-सम' भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता से पुरस्कृत भी होता है। 'तत-सम' को पढ़ना भी एक चुनौतीभरी चैतन्यता है। चैतन्य हुए बिना इसके उत्स को पकड़ पाना, वसुधा के अंतरंग और समाज के बहिरंग को समझ पाना तथा वसुधा के निर्णय को निष्पक्ष मान लेना भी एक निर्णायक चुनौती है। राजी सेठ ने वसुधा को देखते हुए उसकी जीवन विसंगतियों को अहमदाबाद से दिल्ली की यात्रा में **'बीच इतिहास'** शीर्षक से रेखांकित कर लिया था। अस्सी पृष्ठीय यह कहानी 'धर्मयुग' से लौट आयी थी। कुछ साल बाद वसुधा का अंतरंग जब राजी में पककर बाहर आया तो वसुधा की ततसमता मानवीय रिश्तों के रेशों से समता करा गयी। ऐसे स्थिति-परिवेश में रचना का मन मार्मिक मानवीय मूल्यों से साक्षात पाता है और फिर वही साक्ष्य सार्वभौम मानवीयता का मूल्य भी स्थापित करता है। वसुधा उसी मूल्य की उपलब्धि है। भारतीय समाज में पुनर्विवाह की समस्या पर जितनी जड़ता है उतनी ही जड़ता विधवा-विवाह की है। पुरुष इस मामले में निठल्ला है, परंतु स्त्री इस परिस्थिति से जार-जार है। वसुधा वैधव्य को अकारण झेल रही है। कोई उसे अपने शेष जीवन का सहारा बनाना चाहता है, तो कोई उसे अपने बच्चों की माँ की आवश्यकता पूरी करने को धाय, तो कोई उसकी प्राध्यापकी की नौकरी के अर्थलोभ से अपनाना चाहता है। ऐसी स्थिति में स्त्री की सामाजिक हैसियत की बोली लगना मानवीय अपराध नहीं तो और क्या है ! राजी सेठ का अंतरंग वसुधा के इस परिवेश से आतंकित, क्रोधित और परिवर्तनकामी प्रत्याशा से ततसमता की माँग करता है। यह परिवेश ही मन को 'तत-सम' तलाशने को कहता है। सामाजिक असुरक्षा का भावबोध संतुलित विवेक से अकादमिक बौद्धिकता में सहज आनंद की प्राप्ति कराता है। यहाँ प्रेम का त्रिकोण फलित नहीं होता बल्कि तत-समता की तलाश सफल होती है और एक अपराजेय नारी की गुणधर्मिता धर्मित होती है। यही तत-सम है, यही ततसमता है।

वस्तुतः यहाँ तत्सम ही तत-सम में रूपांतरित होता है। कथाकार राजी सेठ ने तत्सम के वैयाकरणिक सर्जना से व्यावहारिक सर्जना में तत-सम की साम्यता का बोध कराया है। वर्तनी-बंधन से मुक्ति का अर्थ खोजा है और संवेदना के 'सम' का दर्शन कराया है। वसुधा की मुक्ति वर्तनी की मुक्ति है, उसकी संवेदना के सम की प्राप्ति है और उपन्यासकार का प्रतिपाद्य भी यही है। बहुत बार अर्थ-विचलन सार्थकता को इसी संदर्भ में स्थापित करते हैं। वस्तुतः जिजीविषा का जागरण आंतरिक चैतन्य को चरम तक पहुँचाता है, यह जीवन-दर्शन सातत्य योग दर्शन का परिणाम है। 'तत-सम' उपन्यास का शीर्षक दार्शनिक तत्वबोध का व्यावहारिक दर्शन है जो मनोविज्ञान की ग्राह्यता से विश्लेषित अनुभूति का फल प्राप्ति योग है। अंततः वसुधा परिवार, परंपरा, निखिल, विवेक, संवाद, सेमिनार के बाद आत्मानुभूति और आत्मचैतन्य के तत-सम से आत्मनिर्णय में आनंद को प्राप्त करती है जो आनंद का भी तत-सम है। यह फल प्राप्ति दोनों को पूर्ण करता है। यहाँ भावुकता नहीं है, संतुलित विवेक का निर्णय है। जीवन यथार्थ इसी से आगे बढ़ता है।

उपन्यास खोलते ही काव्यात्मक आभास उपन्यास को उद्भासित कर देता है-- **वह/अपना ही**

चैतन्य था। / जिसने मुझे चौकाया! अर्थात् उपन्यास का कथानक अपने ही अंतरंग राग से उत्सर्जित हुआ और उपन्यास का उतरार्द्ध-- **मुक्ति / अपनी अकेली / किसी की भी नहीं होती !** अर्थात् अकेलेपन में स्व की मुक्ति भी संभव नहीं है, उस चैतन्य का साथ अन्वित है। अस्तु, चैतन्य की परिणति मुक्ति है। विधवा वसुधा को अपने वैधव्य से मुक्ति की प्राप्ति में चैतन्य की समप्राप्ति है। अतः राजी सेठ का यह उपन्यास चैतन्य पाठक की चेतनता है, सतही यथार्थ का कैनवस नहीं। उपन्यास का अंत पत्र के माध्यम से होता है। अमूर्त को मूर्त करना पत्रों की सार्थकता है। आज के पत्रविहीन जीवन का चलन संवेदनशून्य है, इसलिए वर्तमान ज्यादा विसंगतियों से भरा है। आत्म अभिव्यक्ति का व्यक्तिनिष्ठ शिल्प इससे इतर संभव नहीं है। आत्मभाव का विस्तार इस शिल्प से ही सार्थकता पाता है। राजी को अपने पात्रों के आत्मविस्तार में पता नहीं कितने पत्रों को कई-कई बार लिखना पड़ा होगा ताकि उपन्यास की न्यासितवृत्ति पात्र के भावानुसार परिपक्व अभिव्यक्ति दे सके। पत्र शैली में उपन्यास लेखन न के बराबर हुआ है। राजी ने पत्रों के मन-विवर को खोलकर रिश्तों की भावव्यंजना को पूरा-पूरा आयाम देने की कोशिश की है जिसे पाठक डूबकर पढ़ता है। 'तत-सम' अपनी समग्रता में कथा भाषा की समग्रता के साथ मानवीय दर्शन और मानवीय समाजमनोविज्ञान की भाषा का बहाव लिये हुए है जो एक साथ पाठक को कई स्तरों पर बाँधे हुए रखता है।

राजी सेठ का दूसरा उपन्यास **'निष्कवच'** है। यह दो वृत्तांतों में विभक्त एक मार्मिक कथा है। दो संस्कृतियों से उद्‌बुद्ध युवा पीढ़ी की अकुलाहट की कथा है। दोनों वृत्तांत एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों नारी केंद्रित कथा है, जिसमें पुरुष आलम्बन बना है। राजी ने इन दोनों कथा आख्यानों को वृत्तांत कहा है- ठीक ही है; घटना-विवरण या विषय-वर्णन ही तो वृत्तांत है और औपन्यासिक आख्यान का हेतु भी है। इन दोनों आख्यानों में बिना लाग-लपेट या बिना छुपाव निष्कवच यथार्थ की कालगत अभिव्यक्ति जीवन मूल्यों की दो संस्कृतियों को निष्कवच करती है। इसलिए इन दोनों वृत्तांतों के लिए 'निष्कवच' शीर्षक दार्शनिक अनुभूति में दृश्यांतर का प्रतिफल प्रतिपादित करता है। दोनों वृतांतों में एक तारतम्यता है। टूटते जीवनमूल्यों की धुंध में युवा पीढ़ी अपनी धुरी से कैसे उखड़ जाती है और फिर तनाव और संत्रास का शिकार बन जीवनमूल्यों से भटकाव की स्थिति में आ जाती है, यह स्थिति ही निष्कवच की स्थिति है।

दोनों कथनाकों के नायक स्वदेशी हैं। परंतु एक वृत्तांत की नायिका स्वदेशी 'नीरा' है दूसरे की नायिका विदेशी 'मार्था' है। अपनी भूमि से अलग किसी की नियति नहीं होती, राजी इसे बड़ी शिद्दत से स्वीकारती हैं। नीरा अपनी भूमि से अलग माँ की हालत से उपेक्षित बनी मौसी के यहाँ अध्ययनरत है, लेकिन माँ-बाप का घेरा नहीं मिलने से स्वयं निष्कवच होती है, बासू को भी निष्कवच कर शादी को विश्वास लायक चीज न समझकर भारतीय मूल्यों को अनास्था करार देती है, परंतु समकाल की तलाश में रमण से शादी कर अपनी स्वतंत्रता से बासू को अंगूठा दिखाती है।

'मार्था'; जो पुरुष अस्तित्व को गर्भ में ही मिटा देना चाहती है और जीवन मूल्यों को धत्ता देती हुई अपने निज-बोध को सर्वोपरि करार देती है। इस दूसरे वृत्तांत का कथानायक डॉलर की लालसा में बिना स्थायित्व के मित्र प्रशांत के आमंत्रण से अमेरिका पहुँच जाता है। वहाँ परिस्थितियों के मकड़जाल में हताश होकर मार्था के शरण में सम्पूर्ण निजी मूल्यों का क्षरण होते पाकर झल्लाता है, परंतु व्यर्थ, क्योंकि अब वह मार्था का शिकार हो चुका है, अब न वह देश आने लायक रह जाता है और न मार्था के पास रहने लायक ...! मार्था के सामने वह निष्कवच है और कथानायक अपनी माँ के पास एक बार आकर भी रह नहीं पाता। दोनों ही वृतांत संत्रास और अलगाव में विगलित हैं। नीरा भी अलगाव भोग रही है-मौसी,

विशाल और बासू के साथ। परिवेश में मन की बुनावट ने व्यावहारिक सच्चाई को स्वीकार किया। मार्था का कथानायक नामहीन भी है और अस्तित्वहीन भी। नीरा का गणित ज्ञान व्यावहारिक है, वह समय के साथ अपने को चेंज करती है, परंतु मार्था का कथानायक अपनी जड़ों से बिल्कुल उखड़ चुका है, इसलिए मूल्यहीन हो गया है। मार्था अपनी संस्कृति के साथ है, अपनी अमेरिकी संस्कृति के, ऐसे में दोनों ही वृत्तांतों में नायक ही निष्कवच होते हैं, नायिका अपने में सिद्ध हैं! यहाँ प्रेम कहीं नहीं है, है परिस्थिति की पारंगत फेहरिस्त.....!

निष्कवच का प्रथम प्रकाशन 1995 में भारतीय ज्ञानपीठ से होता है और लगातार प्रकाशन होता है। युवा वर्ग को सचेत करता हुआ यह उपन्यास अपने मूल्यों की मर्यादा में सुरक्षित रहने का संदेश भी है! निष्कवचता आधारहीनता है। अंग्रेजी सहित कई भाषाओं में अनुवादित होकर 'निष्कवच' निष्प्रयोजित नहीं है। निष्कवचता व्यक्तिगत, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अनेक सन्दर्भों में हो सकती है। 'कवच' सुरक्षा का पर्याय है लेकिन 'निष्कवच' यानी कवचहीन होना। यहाँ निष्कवच का बोध उसी तरह है जैसे दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में 'निष्पाप' और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में 'निष्काम'। अर्थात् स्वयं में स्वयं निष्कवच होता है। इसके दोनों वृत्तांत की निरंतरता में निष्कवच की मनोदशा विद्यमान है। पहले वृत्तांत के केन्द्र में नीरा है जो तीन-तीन पुरुष मनोविज्ञानों को पार कर रमण को प्राप्त करती है। यह उसका आत्मनिर्णय का मनोविज्ञान है और यह उसका भौतिक सत्य है, पुरुष के समानार्थी उसका अपना निष्कवच है। दूसरे वृत्तांतों के केन्द्र में मार्था अपने निजत्व बोध में पुरुष उत्पादिका बनने के बजाय उसे मिटा कर, आत्मविमोचन की रचना को अनुभूत करती है। दोनों वृत्तांतों में दो परिवेश और दो संस्कृतियों में निरंतरता के साथ एक ही प्रतिफल की अन्विति है, निष्कवचता की!

जटिल कथा रचना से उपादेय निकालना विचलनरहित विचलन की समप्राप्ति है राजी सेठ की कथा-संवेदना! कथा-बुनावट में मर्म और संवेदन का शिल्प इस तरह शिल्पित है कि मार्था और नीरा का निर्णय समकालीनता का पर्याय लगने लगता है। भाषा और कथन कहने की शैली सांकेतिक भी है तथा बिम्बात्मक प्रतीकों में चिह्नित होकर लोकमिथ में समाहित होते नजर आती हैं। राजी अपने समय के समकालीनों में अपनी भाषा और शिल्प में एक अलग पहचान की तरह हैं, चाहे 'तत- सम' की साधना हो या अपने को 'निष्कवच' होने की परिणति! बेटे को पत्र लिखने में अंग्रेजी शब्द प्रयोग मातृत्व की भाषा है, वह किसी भाषा का पर्याय नहीं है। माँ की सनातनता है। भारतीय भाषा की पैंतालीस पुस्तकों में से हिंदी भाषा की पुस्तक के रूप में 'निष्कवच' का चुनाव मैकमिलन ने 1999 में अपनी अनुवाद योजना के अन्तर्गत किया था। अंग्रेजी का यह अनुवाद कई संस्करणों का साक्षी बना।

कहना न होगा कि राजी सेठ की कथा रचना कई स्तरों पर अपनी विशिष्टता की पहचान कराती है। भाषा काव्यभाषा है। भाषा में विचलन के साथ समांतरता की ध्वनि कई-कई अर्थों में प्रतिध्वनित होती है। वसुधा की प्रतिध्वनि रागवेष्ठित है, मार्था की प्रतिध्वनि रागविगलित! परंतु दोनों की स्त्री-चेतना की प्रगल्भता अलग-अलग मूल्यों से वेष्ठित है। इसलिए तत्सम तत-सम है और निष्कवच निःकवच है। तत् की समता जीवन को सम बनाकर जीवन मूल्य देती है, परंतु विगलित मूल्य रिश्तों से निष्कवच होते चले जाते हैं।

प्राध्यापक, संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
मो. - 9420063304
ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

संजीव के उपन्यासों में जंगल-जमीन-खदान

गीता दूबे

1981 में प्रकाशित कथा संग्रह **तीस साल का सफरनामा** से अपनी औपचारिक रचना यात्रा की शुरुआत करने वाले खोजी कहानीकार संजीव ने आधा दर्जन से ऊपर उपन्यासों की रचना भी की है। संजीव के कथालेखन की एक बड़ी विशेषता है कि उनकी रचनाओं में दोहराव नहीं मिलता। हर बार अपनी खोजी तथा पारखी दृष्टि से वह एक नए विषय की तलशा करते हैं और एक गवेषक की तरह उस की गहराई में उतरकर, उसकी जड़ों में पैठकर न केवल उसे विस्तार देते हैं बल्कि एक ऐसा कोण भी खोज निकालते हैं जिस पर आज तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ी थी। उनका हर उपन्यास एक नये विषय या नई पड़ताल की कथा बुनता है वह चाहे **किशनगढ़ के अहेरी** हो या **सर्कस** या फिर **'सूत्रधार'**, **'धार'**, **'पांव तले की दूब'**, **'जंगल जहाँ शुरू होता है'**, **'आकाशचम्पा'** अथवा **'रह गई दिशाएँ इसी पार'** जैसी विज्ञान फंतासी।

1986 में प्रकाशित उनके उपन्यास **"सावधान! नीचे आग है"** में कोयला खदान के मजदूरों के शोषण, उनकी असुरक्षित नौकरी जहाँ खतरा सिर्फ नौकरी जाने का ही नहीं, जान जाने का भी है, भयावह परिस्थितियों में होने वाली मृत्यु और मृत्यु के उपरांत मालिकों द्वारा मुआवजा हड़प लेने की दिल दहलाने वाली कथा है। यह उपन्यास पाठकों को एक ऐसी खौफनाक सुरंग की यात्रा करवाता है जिससे बाहर निकलने की कोई राह उन्हें दिखाई नहीं देती। इस सुरंग में दम घुटने के कारण मरनेवाले मजदूरों के साथ पाठकों के हृदय का कोई कोमल कोना भी मर जाता है। अवर्णनीय अत्याचारों और मालिकों की हृदयहीनता का ऐसा बयान जिसे पढ़ते हुए पाठकों का कलेजा काँप उठता है। संजीव चतुर्दिक धधकती शोषण और अनाचार की आग की भयंकरता की रोंगटे खड़े कर देने वाली कथा पूरी सच्चाई के साथ कहते हैं, *"चंदनपुर के नीचे आग धधक रही है। लोगों में आग है, उनकी नसों के बिल्कुल करीब.... आग ही आग.... लाल सुर्ख.... तपती हुई.... वह आग हो सकता है कि कभी किसी बड़े परिवर्तन का सूत्रपात करे लेकिन अभी तो यह सिर्फ लोगों को जला रही है। तिल-तिल करके जल रहे हैं। वे अपनी छोटी छोटी अपूर्ण इच्छाओं के साथ। जिंदगी वीभत्सता की हद तक सड़ी हुई... नर्क ...."* (पृ. 05)। ऐसा नहीं था कि यह आग सिर्फ जला रही थी, वह

उन स्वार्थी तत्वों के लिए वरदान बनकर उनकी जिंदगी को सुख सम्मान के साथ चला भी रही थी जो इसकी धधकती लपटों में अपनी आकांक्षाओं की रोटियां सेंकने में सिद्धहस्त थे और मजदूरों की मृत्यु का तमाशा बनाकर उन्हें मुआवजे से वंचित करने का नाटक खेलने की कला में भी कुशल प्रवीण थे, वे खदान चलाकर, मजदूरों को जलाकर, खदान में भरनेवाले पानी में उन्हें डुबाकर भी लज्जित नहीं होते। मजदूरों को तो झूठा वहम था कि वे खदान चलाते हैं, "असल में खदान चलाते हैं माफिया सरदार चंद्रकिशोर सिंह, गजाधर सिंह, अनूप सिंह, रामजी तिवारी जैसे कान्ट्रैक्टर। इन्हीं के यूनियन, इन्हीं के सूदखोर, इन्हीं के दारूखाने, इन्हीं की पुलिस, इन्हीं का प्राशसन। जायज-नाजायज सब इन्हीं का। मैनेजर, एजेंट तो इन्हीं की इच्छा के गुलाम हैं। मजाल है इनकी हुक्म उदूली करके आगे निकल जाएं।"(पृ. 27)। इन तमाम जायज नाजायज तरीकों से मजदूरों का शोषण करनेवाले शोषकों का पर्दाफाश करते हुए कथाकार संजीव पूरी ईमानदारी और प्रतिबद्धता के साथ खदान मजदूरों के पक्ष में खड़े ही नजर नहीं आते बल्कि परिवर्तन का सूक्ष्म संकेत भी छोड़ते हैं कि, परिवर्तन का सूत्रपात कभी ना कभी तो होगा ही।

1990 में प्रकाशित उपन्यास **"धार"** पुलिसिया अत्याचार के भयावह संकेत देता हुआ पहले बिहार अब झारखंड के आदिवासी बहुल क्षेत्र संथाल परगना की कथा कहता है। उपन्यास के केन्द्र में आदिवासी हैं और उनके आस पास उन्हें तरक्की का झूठा सपना दिखाकर उनका शोषण करनेवाले स्वार्थी ठेकेदार भी, जो सिर्फ अपनी समृद्धि और उन्नति के बारे में ही सोचते हैं। उनके कल-कारखाने गांव के मूल निवासियों अर्थात आदिवासियों की जमीन पर बनते हैं और उनसे उत्पन्न प्रदूषण का जहरीला धुंआ और तेजाब आदिवासियों की ही जान लेता है।

प्रसिद्ध कवि अरुण कमल की एक प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ हैं- *"अपना क्या है इस जीवन में, सब तो लिया उधार, सारा लोहा उन लोगों का, अपनी केवल धार।"* आलोच्य उपन्यास के संदर्भ में ये पंक्तियां इस मायने में सही उतरती हैं कि आदिवासियों के जीवन, उनके रीति रिवाजों, संस्कारों, समस्याओं आदि को लेखक संजीव ने अपनी लेखनी की धार से इतनी जीवंतता से उकेरा है कि पाठक सहजता से उपन्यास में रम जाता है। इसके साथ ही जन आंदोलनों और समाज के हाशिए पर खड़े तमाम शोषित वंचित लोगों की मंद पड़ती संघर्ष शक्ति को भी वह नयी धार देते हैं। उपन्यास के पन्नों से गुजरते हुए ऐसा महसूस होता है जैसे संथाल परगना के संथालों के जीवन को लेखक ने न केवल बेहद नजदीक से देखा है बल्कि उसे जीया भी है। कभी वह शर्मा के चरित्र से झांकते दिखाई देते हैं तो कभी अन्य किसी सामाजिक कार्यकर्ता के।

उपन्यास की शुरुआत होती है उपन्यास की नायिका मैना के जेल से अपनी सजा काटकर बाहर आने के दृश्य से। जेल में वह अपने छः महीने के बेटे को छोड़ आई थी जो उस पर जेलर द्वारा किए गए शारीरिक अत्याचार का प्रतिफल था। उसी के साथ ही जेल से मुक्ति पाता है कबाड़ी मंगल जिसे वह बेटा थमा दिया जाता है, अंततः मैना का ममत्व जाग जाता है और वह उस जेल की सौगात बेटे और पुरुष मंगल को साथ ले अपने बाप और कारखानेदार महेंद्र सिंह से लड़ने के लिए एक बार फिर से अपने गाँव पहुंचती है जहाँ से उनसे लड़ाई के कारण ही वह जेल भेजी गई थी। इसके बाद की कथा गंधक कारखाने के मालिक महेंद्र सिंह, शुभचिंतकनुमा दलाल पंडित एवं गाँव की जमीन और संशाधनों का इस्तेमाल अपने लाभ के लिए करनेवाले ठेकेदारों, दलालों आदि से लड़ाई की कथा है। मैना के पिता टेंगर ने महेंद्र सिंह को अपनी जमीन यह सोचकर दी थी कि गाँव वालों को रोजगार मिल सके लेकिन वहाँ जो गंधक का कारखाना बनता है वह लोगों की जिंदगी में जहर ही नहीं घोलता उनकी मृत्यु का कारण भी बनता है। इससे एक भयावह

मृत्यु के बाद ही मैना कारखाने और महेंद्र सिंह के खिलाफ लड़ाई छेड़ देती है और अंततः यह लड़ाई उसके अपने पिता टेंगर और पति फोंकन के खिलाफ लड़ाई में बदल जाती है क्योंकि पिता कारखाने की चौकीदारी करता है और पति वहाँ नौकरी। अंततः सच्चाई सबके सामने आती है लेकिन तब तक आदिवासी समाज अपनी मूल पहचान खोकर भटक चुका होता है, लड़कियाँ अपनी जरूरतों के मद्देनजर घर से बाजार तक का सफर तय कर चुकी थी। जंगल और जमीन की प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं से सहजता से जुड़ा हुआ जीवन बाजार का मोहताज हो चुका था। उस बिखरे जीवन को पटरी पर लाने के लिए स्वयंसेवी संस्थाएँ आगे आती हैं लेकिन उनके अपने अंतर्विरोध थे और सीमा भी। इसके बावजूद प्रेमचन्द के "सेवासदन" और "प्रेमाश्रम" की तर्ज पर "जन खदान" का जन्म होता है जिसका आदर्श है साम्यवादी व्यवस्था। जहाँ मालिक और मजदूर की विभाजन रेखा नहीं है, सभी काम करते हैं और लाभ की राशि सब में बराबर बंटती है। लेकिन सरकार के मंत्रियों की नजर में यह खदान चढ़ता है और वहाँ से कुछ पाने का भरोसा न पाकर वे राष्ट्रीयकरण के नाम पर उसे हड़पने की योजना बना लेते हैं। इसके बाद कोयला माफिया, संजय सेना और जन खदान के बीच छिड़ी जंग में कुछ मजदूर घायल होकर भी जीत जाते हैं लेकिन उस सरकारी बुलडोजर से नहीं बच पाते जो बेईमानों की खदान तो छोड़ देती है लेकिन जन खदान को नहीं बख्शती, सरकारी हुक्म जो था वही *"बुलडोजर जो मूर्ति (इंदिरा गांधी की) को बचाने के चलते चोरों की खदान ध्वस्त नहीं कर सका, इस बार दुविधा त्यागकर जिंदा मैना को रौंदते हुए चला गया।"* (पृ.199)। **लेकिन मैना मर कर** किंवदंती में बदल जाती है और एक साथ कई जगहों पर देखी जाती है। *"जहाँ-जहाँ बुलडोजर पहुँचता है, उहाँ-उहाँ मैना होती है।"* (पृ. 200)। गाँव वालों का विश्वास है कि *"वह मरी नहीं, मर सकती ही नहीं, जिस दिन सब बुलडोजर को उलट आएगी, वह फिर हमारे बीच चली आएगी।"* (पृ.200)।

मैना का चरित्र और जीवट इस उपन्यास की सबसे बड़ी पूंजी है। हार न मानना, हमेशा अपने और अपने समाज के लोगों के अधिकारों के लिए लड़ना, तमाम मुश्किलों के बावजूद अन्याय के विरुद्ध न्याय के पक्ष में खड़ा रहना, भले ही यह पहल अकेले ही करनी पड़े आदि, उसकी चारित्रिक मजबूती का परिचायक है। हर बार जर्रा जर्रा बिखरने के बावजूद वह दोबारा दुगने जीवट के साथ उठ खड़ी होती है और इसी कारण वह मर कर भी नहीं मरती, जन आंदोलन को भी मरने नहीं देती। मैना जैसा जीवट और साहस अगर अधिकांश मनुष्यों के पास हो तो धरती को स्वर्ग बनने से कोई नहीं रोक सकता लेकिन यहाँ हर किसी को अपना-अपना स्वर्ग चाहिए भले ही फिर त्रिशंकु की तरह लटके रहना ही क्यों न पड़े। महेंद्र सिंह जैसे लोग सिर्फ अपने लिए स्वर्ग बनाने की लालसा में पूरी दुनिया को नर्क में तब्दील कर देते हैं और मैना, शर्मा जैसे चरित्र उस नरक की यातना को दूर करने में लगे रहते हैं। ये लोग तमाम हताश, निराश, हारे- थके लोगों के जीवन की कुंद होती शक्ति को नयी धार देते हैं, उनके अंदर की संघर्षशीलता को मरने नहीं देते।

2000 में प्रकाशित उपन्यास **"जंगल जहाँ शुरू होता है"** में वैसे तो मिनी चंबल कहे जानेवाले बेतिया की थारु जनजाति के जीवन की तमाम समस्याएं हैं जो उस क्षेत्र की डकैत समस्या पर आधारित हैं लेकिन इसमें प्रशासन पर भी खुलकर प्रहार किया गया है जो इन डकैतों को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करता है और जब उनकी जरूरत खत्म हो जाती है तो एनकाउंटर में मरवा कर वाहवाही लूटता है। पुलिस का नया अफसर कुमार नए जोश और उत्साह के साथ डकैत समस्या की जड़ में उतरने की कोशिश तो करता है लेकिन प्रशासन में फैला भ्रष्टाचार एक ओर उसे कुछ भी नया सोचने करने से रोकता है तो दूसरी ओर अपने आस-पास के

पुलिसकर्मियों की संगति में रहते हुए वह अंदर ही अंदर उन जैसा घूसखोर तो नहीं लेकिन क्रूर जरूर बन जाता है। अपने अभाव, अपमान, दोतरफा अत्याचार (डाकू, पुलिस) के कारण डकैत बने काली को वह राहुल सांकृत्यायन की किताबें भेंट करके उसके जीवन को नई दिशा जरूर देना चाहता है लेकिन उससे वायदा करने के बावजूद उसके भाई बिसराम को पुलिसिया अत्याचार और अंततः एनकाउंटर का शिकार होने से नहीं बचा पाता । वस्तुतः जिस जंगल को भेद कर वह ऑपरेशन "ब्लैक पायथन" के तहत समाज को डाकमुक्त करने का सपना देख रहा था वही जंगल कब धीरे-धीरे उसके अंदर उग आता है, उसे पता ही नहीं चलता । उपन्यास के अंत में कुख्यात डाकू पुरुषोत्तम चुनाव जीतकर राजनीति में उतर जाता है और कुमार जैसे अफसरों को उसका हुक्म बजाना पड़ता है। परेमा एनकाउंटर में मारा जाता है और काली का दल टूट जाता है। अर्थात दबंग डाकू अपनी शक्ति और रसूख के बल पर एक जंगल से निकलकर दूसरे जंगल में प्रवेश कर उसके परिवेश को और भी भयावह बना देते हैं। तमाम भयावहता के बावजूद उम्मीद की एक हल्की सी किरण जगती है जब काली मृत मलारी को बेटे कुमार को और कुमार उसे मास्टर मुरली पांडे को सौंपता है ताकि वह बड़ा होकर, डाकू बनने की जगह किसी और दिसा में जाए और अपने साथ-साथ अपने समाज के लोगों का जीवन भी संवार सके लेकिन इसके पूर्व की घटनाएं बताती हैं कि पुरुषोत्तम और काली भी पांडेय जी के ही छात्र थे फिर भी डाकू बने इसीलिए अगर परिस्थितियों को बदलना है तो सिर्फ आदर्शवादी किताबी और हवाई बातों से काम बनना मुश्किल है। तथाकथित सभ्य समाज के मानवों के अंदर जो बनैले संस्कार बचे रह गए हैं उन्हें घिसने और मांजने की आवश्यकता है।

आलोच्य उपन्यास में थारू जनजाति के इतिहास, उसकी मान्यताओं, स्वभाव आदि को बड़ी रोचकता से सामने रखा गया है और समाज के बीच फैली वर्णवादी मनोवृत्ति को भी गहराई से खंगालने की कोशिश की गई है जो बहुत से झगड़ों और समस्याओं की जड़ है अर्थात सभ्य समाज में भी छद्म अहंकार का एक ऐसा जंगल पसरा हुआ है जहाँ शक्तिशाली शेर हर हाल में बकरी का शिकार करता है। ऊँच-नीच, सवर्ण-अंत्यज, कौमीन-प्रवीण जैसे भेद जब तक समाज में रहेंगे तब तक असंतोष का जंगल सुलगता रहेगा। रोचक शैली में सृजित यह उपन्यास न केवल पाठकों को बांधता है बल्कि अपने सच्चे और जीवंत वर्णनों से दहलाता भी है सुन्नर पांडेय की पत्नी द्वारा अपने ही हलवाहे की पत्नी का बलात्कार, अपने ही सामने अपने भाई से करवाने की घटना उस वर्गभेद और घृणा की भयावहता को स्पष्ट करती है जिसकी धधकती भट्टी में सदियों से एक खास वर्ग के लोग जलने और तपने को विवश हैं। कहीं शिक्षा और आर्थिक आजादी ने इस घृणा की लपटों को धीमा किया है तो कहीं इसकी चिंगारियाँ बुझी हुई राख में से चमक उठती हैं और यह चिंगारी कोई दूसरा रास्ता न पाकर दबे कुचले आत्मसम्मान की रक्षा के लिए बंदूक उठाने को विवश कर देती है और इसके बाद पीढ़ी दर पीढ़ी नफरत और बदले की ऐसी आग सुलगती है जिसमें इंसानियत, नैतिकता, मर्यादा आदि सब जलकर भस्म हो जाती हैं। शिक्षा और सभ्यता ने इस घृणा पर एक चादर जरूर डाल दी है लेकिन अब भी सूट बूट से लैस आधुनिक मानव की सज धज के नीचे उसी जंगली मनुष्य की भयंकर प्रवृत्ति छिपी रहती है जो मौका पाकर वार जरूर करती है और समाज को अगर सँवारना है तो मन के अंदर पसरे इस जंगल को साफ करने की जरूरत है।

सन 2005 में प्रकाशित उपन्यास **"पांव तले की दूब"** का कलेवर संजीव के अन्य उपन्यासों की तुलना में संक्षिप्त है लेकिन उसमें संकेतित समस्याएं बड़ी, बेहद बड़ी हैं। आदिवासियों की व्यथा कथा, उनके ही जंगलों पर से समाप्त होता उनका जन्मजात

अधिकार और उनके अधिकारों की लड़ाई लड़नेवाले कार्यकर्ताओं की उलझनें, सुदीप्त के आत्मकथात्मक बयान के माध्यम से वर्णित हुई हैं। सुदीप्त एक संभावनाशील रचनाकार और आदिवासियों के अधिकारों के लिए लड़नेवाला कार्यकर्ता होने के साथ ही बिजली कारखाने का अफसर भी है। इसी कारण उसकी जिंदगी दोधारी तलवार पर चलने जैसी है। एक ओर उसके अपने लोग उसे बेगानी दृष्टि से देखते हुए गाहे बगाहे तंज कसते रहते हैं तो दूसरी ओर आदिवासी उसे पूरे मन से स्वीकार नहीं कर पाते और सशंकित दृष्टि से देखते हैं। सुदीप्त जैसे कार्यकर्ता प्राणपण से कोशिश करने के बावजूद आदिवासी समुदाय की मानसिकता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं ला पाते। फर्क इतना ही पड़ता है कि कालीचरण जैसे आदिवासियों के बच्चों के नाम भर शहरी नामों में बदल जाते हैं लेकिन उनकी स्थितियाँ बद से बदतर होती जाती हैं। हालांकि सुदीप्त उन्हें बार बार प्रेरित करता है कि वे अपने दुखों के पहाड़ को "तन्त्र, मंत्र, पूजा प्रार्थना" से नहीं "लगातार कोशिश" से हटा सकते हैं। उसकी प्रेरणा रंग तो लाती है लेकिन परिवर्तन के उस रंग को स्वयं सुदीप्त नहीं देख पाता।

कालीचरण किस्कू के चरित्र के माध्यम से युवा आदिवासी के दिग्भ्रमित चरित्र को जीवंतता से उकेरा गया है जो एक और आंदोलन, जुलूस आदि में शामिल होता है तो दूसरी ओर "रोग कुदाता" है और मंत्र के बल पर न केवल पहाड़ हिलाने का दिवास्वप्न देखता / दिखाता है बल्कि बिहार से अलग झारखंड बनाने की बात भी करता है। झारखंड बनने की सुगबुगाहट और आंदोलन के पीछे की वोट बैंक की राजनीति पर भी लेखक ने बखूबी प्रहार किया है। नेता लोग आदिवासियों के गाँव में महज वोट के लिए आते हैं, उनकी समस्याओं से उन्हें कुछ विशेष मतलब नहीं होता है और शायद यही वजह है कि झारखण्ड जिन मूल निवासियों के नाम पर या मांग पर बना, वे लगातार उपेक्षित रहे। आंदोलन के नेताओं के मानसिक विभाजन और बिखराव का वर्णन उपन्यास में सूक्ष्मता से हुआ है। हंसदा जैसे नेता तक आदिवासियों की जमीनी समस्याओं की बात को दरकिनार कर झारखण्ड बनाने को ही अपना एकमात्र उद्देश्य मान रहे थे और उसी पर प्रहार करते हुए सुदीप्त कहता है, *"आप क्या समझते हैं, अलग झारखंड राज्य मिल जाने मात्र से सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी? कहीं ऐसा तो नहीं कि भारत की आजादी की तरह स्वार्थी, शोषक तत्व, कुलक और शिक्षित वर्ग आगे बढ़कर उसका लाभ हथिया ले जाएगा, ये दीन हीन लोग जस के तस पड़े रहेंगे।* (पृ. 88)। आदिवासियों को बहलाने के लिए उन्हें आरक्षण का लॉलीपॉप थमाकर चुप करा कर दिया जाता है लेकिन उस आरक्षण की बदौलत कहीं पहुँचने के रास्तों पर ढेरों कील कांटे बिछे रहते हैं जिन्हें पार करके हाशिए से केंद्र तक पहुँचना बेहद मुश्किल होता है और अगर पहुँच भी गए तो लोगों की उपेक्षापूर्ण दृष्टि और व्यंग्यबाण जिंदगी दूभर कर देते हैं, इन तमाम जरूरी बिंदुओं पर उपन्यास में गंभीरतापूर्वक चर्चा हुई है। इसके साथ ही जन आंदोलनों की विफलता के कारणों की पड़ताल की कोशिश भी यहाँ दिखाई देती है। सुदीप्त अपने मित्र समीर से अपना दुख साझा करते हुए कहता है," *इस देश के आंदोलनों को क्या होता जा रहा है?* (पृ. 91)।

वस्तुतः आलोच्य उपन्यास सिर्फ झारखंड के लिए होनेवाले आंदोलनों की ही बात नहीं करता, उनमें आनेवाले भटकाव और अनचाहे मोड़ों की कथा भी कहता है। जन नेताओं के समर्पण और उनके जीवट की ही कथा नहीं कहता, उनके विचलन और स्खलनों के विवरणों को भी दर्ज करता है, हंसदा हो या सुदीप्त सभी एक खास मोड़ पर आकर अपने आंदोलन और कार्यों की विफलता से घबड़ाकर निराशा के गर्त में डूब जाते हैं। कोई भी परिवर्तन रातों रात नहीं आता, इस बात को जानते बुझते हुए भी सुदीप्त जैसा नेता जो बड़ी से बड़ी आलोचना और

लांछन के सामने नहीं झुका था, हताशा के गर्त में डूबकर न केवल अपने जीवन और आंदोलन से कट जाता है बल्कि अपने आप को एक ऐसे एकांतवास में ढकेल देता है जिसकी परिणिति आत्महत्या में होती है।

आदिवासियों की सहज जीवन शैली को अपने निहित स्वार्थ के लिए बरबाद करके उसका तमाशा देखनेवाले स्वार्थी नेताओं की पोल भी खोली गई है। साथ ही आंदोलन को अपना जीवन मानने वाले नेताओं के समर्पण और उनके जीवट की सराहना के साथ-साथ उनकी हताशा को भी पूरी निर्ममता से चित्रित किया गया है। उज्जवल राय, शीला केरकेट्टा जैसे कई अवसरवादी चरित्रों का पोस्टमार्टम भी हुआ है जो आदिवासी कार्ड खेलकर खुद तो भौतिक विकास की सीढ़ियाँ चढ़ जाते हैं और अपने ही समाज के लोगों को मरने खपने के लिए पीछे छोड़ देते हैं। इसी तरह तथाकथित विकास की बखिया भी उधेड़ी गई है जो अपने साथ विनाश की ऐसी जहरीली आंधी लेकर आया कि पेड़ों के पत्ते तक काले पड़ गए। इन तल्ख और भयावह वर्णनों और सुदीप्त, फिलीप आदि द्वारा की गई आत्महत्याओं के बावजूद उपन्यास की सार्थकता इस बात में है कि परिवर्तन का सुखद झोंका अपनी ताजगी बिखेरता दिखाई देता है। सुदीप्त भले ही हताश होकर आंदोलन से मुंह मोड़कर बैठ जाता है लेकिन मेझिया के लिए की गई उसकी मेहनत धीरे धीरे रंग लाने लगती है तभी तो माझी हड़ाम नहीं चाहते कि सुदीप्त की आत्महत्या की निराशाजनक सूचना मेझिया निवासियों तक पहुंचे जो सुदीप्त को अपना गुरु और ईश्वर मानकर अपने जीवन की नई इबारत लिखने की कोशिश में प्राणपण से लगे हुए थे। वह सुदीप्त की क्रांतिकारी छवि को गाँववासियों के बीच जीवित रखना चाहते हैं क्योंकि उनका मानना था, *"सब समझेगा कि ई लिखे वाला सब लेखक-फेखक, कबी-सबी भी अइसे ही होता है ओझवा सब जइसा जिसको अपने मंतर पे भरोसा नयें है! अइसे एक भरम तो रह जाएगा! लड़ने वाला फउज को इ पता नयँ चलना चाहिए कि ओकर सेनापति भाग गया।* (पृ. 159)। अतः वह अपनी भावनाओं को काबू करके, दुख को हृदय में दबा कर सुदीप्त के दोस्त समीर को तुरंत गाँव छोड़ने का निर्देश देते हैं और प्रदूषण के थपेड़ों के बीच घायल होते विकास के सूरज को वृद्ध लेकिन मन से मजबूत माझी हड़ाम अपने कंधों पर बैठाकर आदिवासी अस्मिता का नया इतिहास लिखने के लिए सधे कदमों से चल पड़ते हैं।

आलोच्य उपन्यासों के बीच एक मूलभूत समानता है कि ये चारों शोषितों, वंचितों तथा देश और समाज के हाशिए पर पड़े लोगों की समस्याओं को केंद्र में रख कर सृजित हुए हैं। उनके जीवन के जरूरी सवालों पर कथाकार संजीव बड़ी गंभीरता से बात करते हैं। हालांकि ये सवाल वृहत्तर समाज के लोगों को बहुत बार सिर्फ इसलिए जरूरी लगते हैं क्योंकि वे उनके निहित स्वार्थों की पूर्ति के साधन बन सकते हैं। शायद यही वजह है कि बहुत से सवालों के कामचलाऊ जवाब ढूंढ लिए जाते हैं और बहुत से इसलिए अनुत्तरित रहते हैं क्योंकि जिम्मेदार लोग उन्हें सुलझाना ही नहीं चाहते। संजीव न सिर्फ सवाल उठाते हैं बल्कि उसके जवाब तलाशने की ईमानदार कोशिश भी करते दिखाई देते हैं। बाकी जिम्मेदारी तो अन्य लोगों की भी बनती है।

(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, स्कॉटिश चर्च कॉलेज, कोलकाता)
पूजा अपार्टमेंट, फ्लैट संख्या ए3, द्वितीय तल, 58 ए/1 प्रिंस गुलाम हुसैन शाह रोड, यादवपुर, कोलकाता-700032
मोबाइल-9883224359
ईमेल-dugeeta@gmail.com

थर्ड जेंडर की समस्याएँ : पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा के आईने में

कृष्णा कुमारी

समाज में थर्ड जेंडर (किन्नर, हिंजड़ा) की व्यथा-कथा को उकेरने के लिए हिन्दी में अनेक उपन्यासों की रचना हुई हैं। इस क्रम में वरिष्ठ रचनाकार **चित्रा मुद्गल** द्वारा रचित उपन्यास **पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा** है। इस उपन्यास में तृतीय लिंगियों के दुःख-दर्द, पीड़ा या संघर्ष को ही नहीं उकेरा गया है, बल्कि उनके प्रति लंबे समय से चली आ रही हमारी मानसिकता को भी दिखाया गया है। नाला सोपारा उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसके केंद्र में एक पुरुष हिंजड़ा पात्र है, सामान्यतः अभी तक उपन्यासों में स्त्री हिंजड़ा पात्र को ही प्रमुखता मिलती थी। लेखिका ने अपने उपन्यास के मुख्य पात्र विनोद उर्फ बिन्नी उर्फ बिमली के जीवन के हर पहलू को पाठकों के समक्ष परत-दर-परत ऐसे खोला है, मानो आँखों के सामने सारी घटना घट रही है। पत्राचार शैली में लिखा गया यह उपन्यास थर्ड जेंडर के जीवन का जीवंत दस्तावेज है।

भारतीय समाज में आज भी जहाँ सामाजिक रूढ़ियों और परिपाटियों के बंधन हैं, वहीं इन स्थितियों को परिवर्तित करने के लिए असाधारण गतियाँ भी हैं। समाज के कई वंचित समूहों को मुख्यधारा में शामिल करने की पहल आज क्रांति का रूप ले चुकी है। दलित, आदिवासी और स्त्रियों ने समाज के साथ संघर्ष करके अपने आप को मुख्यधारा में जोड़ने के सभी प्रयास किए और इसमें आज वे बहुत हद तक कामयाब भी हुए हैं। उनके संघर्षो ने धीरे-धीरे ही सही, समाज की सोच को बदला। समाज में उनके साथ किए जाने वाले भेदभाव में कमी आई है। उनको भी उस इंसान की तरह देखा समझा जाने लगा, जिसके पास दिल और दिमाग है। जिन समस्याओं का सामना दलित, आदिवासी और स्त्रियों ने किया, उनसे भी ज्यादा भयंकर पीड़ा को भोगने वाला वर्ग **थर्ड जेंडर** का है। थर्ड जेंडर विमर्श का दौर साहित्य में प्रारंभ हो चुका है। साहित्य में उपजे विमर्श और अस्मिताओं के आंदोलनों का प्रभाव थर्ड जेंडर यानी स्त्री पुरुष के मानकों में फिट न बैठने वाले अन्य लिंगी (तृतीय लिंगी) पर भी पड़ा है। हमारे समाज में जेंडर के समाजीकरण की प्रक्रिया के तहत स्त्री पुरुष व्यवहार व स्वभाव को ही स्वीकृति दी जाती है।

समाज में मनुष्य की भागीदारी मुख्यतः लैंगिक संरचना के आधार पर ही होती है। सामान्यतः स्त्री और पुरुष, इन दोनों वर्गों से इतर, लैंगिक विभेदीकरण जहाँ सर्वाधिक क्रूर है, वह है तीसरा वर्ग जिसे समाज ने थर्ड जेंडर, तृतीय लिंग या ट्रांसजेंडर की संज्ञा दी है, एक ऐसा वर्ग जिसके जीवन को समाज और अधिक त्रासद बना देता है। यह वर्ग ना तो पूर्णरूपेण स्त्री है, ना ही पुरुष और सामाजिक सक्रियता और भागीदारी एवं विकासात्मक अवसरों की दृष्टि से यह वर्ग पूर्णतया बहिष्कृत या हाशिए पर रहा है। अस्पष्ट लैंगिक पहचान वाले लाखों किन्नरों के प्रति समाज की नकारात्मक धारणा समाज में लैंगिक वर्चस्व का ही नमूना है। जैविक या यौनिक विभिन्नता से जूझते इस वर्ग की उपस्थिति पूरे विश्व में है और यह वर्ग सदियों से हाशिए की जिंदगी जीने को विवश है और उसे ही अपनी नियति मान बैठा है। आधुनिक युग में समय की बदलती धारा, शिक्षा, साहित्य और विज्ञान के हस्तक्षेप के चलते इस वर्ग को थोड़ी ही सही, सामाजिक स्वीकृति मिलनी शुरू हो चुकी है। आज कहीं महापौर (मधु किन्नर), तो कहीं विधायक (शबनम मौसी), कहीं न्यूज एंकर (पद्मिनी प्रकाश), कहीं सामाजिक कार्यकर्ता (लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी) आदि के रूप में सशक्त रूप से इस वर्ग के भी प्रतिभाशाली होने के प्रमाण दे रहा है।

विगत कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य में किन्नर जीवन को लेकर कई उपन्यासों की रचना हुई। शुरुआत नीरजा माधव के उपन्यास **यमदीप** (2002) से हुई। इसी क्रम में नवीनतम उपन्यासों में से एक है, **चित्रा मुद्गल** द्वारा रचित पोस्ट **बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा** (2016)। चित्रा मुद्गल का यह उपन्यास तृतीय लिंग अर्थात थर्ड जेंडर समुदाय की संवेदना को प्रस्तुत करता हुआ पत्राचार शैली में रचित एक बहुत ही गंभीर रचना है। पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा में लेखिका ने किन्नर समाज की उपस्थिति को, उसकी व्यवहारिकता एवं भावनात्मक समस्याओं को पर्याप्त संवेदनाशील ढंग से अंकित किया है। इस उपन्यास में तीन संतानों में से **मंजुला** का बेटा विनोद शारीरिक कमी होने के कारण उसकी गिनती किन्नरों में की जाती है। उसे घर से बेघर कर दिया जाता है। जब बालक को किन्नरों को सौंप दिया जाता है, तब वह पत्र में कहता है- *तूने मेरी बा, तूने और पप्पा ने मिलकर मुझे कसाइयों के हाथ मासूम बकरी सा सौंप दिया। मेरी सुरक्षा के लिए कोई कानूनी कार्यवाही क्यों नहीं की? मनसुख भाई जैसे पुलिस अधीक्षक पप्पा के गहरे दोस्त के रहते हुए? वो अपने आप मुझे बचाने के लिए तो आ नहीं सकते थे। मेरे आंगिक दोष की बात पप्पा ने उनसे बांटी जो नहीं होगी। वरना वह मुझे बचाने जरूर आ जाते। क्यों यह अनर्थ हो जाने दिया तूने, जिसके लिए मैं दोषी नहीं था।*[2]

विनोद के इस कथन ने अपने ही घर से निकाल दिए जाने की उसकी पीड़ा, कुंठा, अपनी बा को लिखे पत्रों में इतनी गहराई से उजागर हुई है कि वह खुद यह सोचने पर विवश हो जाता है कि क्या शब्द बदल देने भर से अवमानना समाप्त हो सकती है? गलियों की गाली हिंजड़ा को किन्नर कह देने भर से क्या देह के नासूर छिटक सकते हैं? परिवार के बीच से छिटककर नारकीय जीवन जीने को विवश किए जाने वाले ये बीच के लोग आखिर मनुष्य क्यों नहीं माने जाते।[3]

यह उपन्यास मुंबई में रहने वाले परिवार के बच्चे विनोद की कहानी है, जो जन्म से ही जननांग की विकृति का शिकार है। मां *वंदना* उसकी शारीरिक विकृति के कारण ही उसके प्रति कुछ अधिक मोहविष्ट है। कुछ बड़ा होने पर साथ के बच्चों के साथ खेलने पर उसे भी अपनी शारीरिक न्यूनता का बोध होता है। एक दिन ऐसे ही बच्चों के साथ खेल कर लौटने के बाद वह मां से पूछता है- *मेरे नन्नू क्यों नहीं है बा? यह सवाल ही वस्तुतः इस उपन्यास का केंद्रीय सवाल है, जो विनोद उर्फ बिन्नी उर्फ बिमली के माध्यम से इस उपन्यास के साथ ही पूरी सामाजिक*

संरचना के आगे अपने भयावह आकार में खड़ा होकर बढ़ता जाता है।[4]

हिजड़ों के ऊपर लिखे गए अन्य उपन्यासों में स्त्री हिजड़ों को ही अधिकार केंद्र में रखा गया है, जबकि पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा का मुख्य पात्र विनोद एक पुरुष हिंजड़े के रूप में पाठकों से मुखातिब होता है। दरअसल किन्नर भी स्त्रीलिंग या पुलिंग हो सकते हैं। यानी प्राकृतिक (जैविक) कारणवश जिसके जननांग पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाते और वे अंतःलिंगी और उभय लिंगी या अलैंगिक होते हैं। अधिकांश किन्नर पुरुष शारीरिक संरचना के होते हैं, किंतु उनका व्यवहार स्त्रियोचित होता है। किन्नर ऐसे भी होते हैं जिनकी संरचना स्त्रियों जैसी होती है पर व्यवहार पुरुषोचित हो, तथापि दोनों प्रकार के किन्नरों में जननांग अवशेषी होते हैं जो सक्रिय नहीं होते हैं।

नाला सोपारा का नायक बिन्नी एक होनहार छात्र था। मां बाप ने कई विशेषज्ञ डॉक्टरों को उसे दिखाया, लेकिन किसी से कोई लाभ ना होने पर वह अपने इस शारीरिक विकृति के साथ ही 14 साल का हो जाता है। हिंजड़ों की तरफ से हिंजड़ा चंपाबाई तब बिन्नी की बा के प्रतिरोध के बावजूद उसे ले जाने के लिए सफल हो जाती है, एक प्रकार से बिन्नी का यह दौहरा विस्थापन था। एक ओर से सामाजिक सांस्कृतिक, दूसरी ओर से भावनात्मक और परिवेश गत। विनोद अपनी पहचान पुरुष के रूप में रखना चाहता है, वह स्त्री हिंजड़ा बनने के लिए तैयार नहीं होता। सारी प्रताड़ना के बावजूद वह उनकी बात स्वीकार नहीं करता और अंत तक अपनी जिद पर डटा रहता है। *उनके लात, घूँसे, थप्पड़ और बातों में गर्म तेल सी टपकती किसी भी संबंध को ना बख्शने वाली अश्लील गालियों के बावजूद ना मैं मटक-मटक कर ताली पीटने को राजी हुआ, ना सलमे-सितारों वाली साड़ियाँ लपेटकर लिपस्टिक लगा कानों में बूंदे लटकाने का।*[5] विनोद उर्फ बिन्नी का स्त्री हिजड़ा ना बनना, हिजड़ों में चली आ रही उस रूढ़ सोच पर प्रहार करता है कि हिंजड़ों का तन पुरुष का होता है, आत्मा स्त्री की।

विनोद न सिर्फ अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए संघर्ष करते दिखता है, बल्कि वह शासन द्वारा उपलब्ध कराए गए अवसर का लाभ उठाकर अपनी हिंजड़ा बिरादरी को भी ओढ़ाई गई नियति से मुक्त होने का प्रबोधन देने के लिए प्रयास करता है। वह पढ़ लिखकर कुछ बनने की जिद, हिंजड़ा बिरादरी में फेंक दिए जाने के बाद भी नहीं छोड़ता। **नाला सोपारा** उपन्यास दूसरों की दया अनुकंपा की जगह मेहनत की रोटी खाने और स्वाभिमान से जिंदगी जीने पर बल देता है। विनोद से बिमली बना दिया गया बिन्नी, तुलसी बाई के हिंजड़ा डेरे पर रहते हुए कभी सुबह-सुबह गाड़ियां धोने का काम करता है, कंप्यूटर संचालन का कोर्स कर के विधायकजी के यहां नौकरी करने लगता है। उपन्यास में हम उसे अपनी छूटी हुई पढ़ाई को इग्नू से पूरी करने को तत्पर देखते हैं। वह मानता है कि जननांग विकलांगता बहुत बड़ा दोष है, किंतु यह कोई ऐसी विकलांगता नहीं है कि अपनी मेहनत की रोटी इज्जत से ना खाई जा सके- *अपने श्रम से जियो। मनोरंजन की दक्षिणा पर नहीं। हिकारत की दक्षिणा जहर है, जहर। तुम्हें मारने का जहर। तुम्हें समाज से बाहर करने का जहर।*[6]

हिंजड़ा शब्द की जगह किन्नर शब्द का प्रयोग या फॉर्म में अन्य जेंडर का एक अलग खाना होता है। विनोद यह सवाल उठाता है कि लिंग की दृष्टि से किन्नरों का वर्गीकरण क्यों? उन्हें भी अपना लिंग चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए न कि अन्य में डाल दिया जाए।

उपन्यास इस सत्य को सामने लाता है कि राजनीति की भी दिलचस्पी किन्नरों को मानवीय गरिमा दिलाने में नहीं, बल्कि आरक्षण का लालच देकर सिर्फ उन्हें वोट बैंक के रूप में उपयोग करने की है। इसलिए शिक्षित विनोद, विधायकजी की पार्टी द्वारा उपलब्ध कराए गए मंच का इस्तेमाल अपनी हिंजड़ा

बिरादरी को स्वाभिमान का, आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाने के लिए करता है। उसकी दृढ़ मान्यता है कि किन्नरों का संघर्ष उन्हें मनुष्य माने जाने का संघर्ष है, उन्हें अपना लिंग चुनने का अधिकार मिलना चाहिए।

हिंजड़ा समुदाय समाज से मिलने वाली उपेक्षा एवं सम्मानजनक रोजगार, अवसरों के अभाव और पथभ्रष्ट हिंजड़ा गुरुओं के कारण अपराध की काली दुनिया में भी प्रायः डूबे देखे जाते हैं। *असामाजिक तत्वों के हाथ की कठपुतली बनने में जितनी भूमिका किन्नरों के संदर्भ में सामाजिक बहिष्कार तिरस्कार की रही है, उससे कम पथभ्रष्ट निरंकुश सरदारों और गुरुओं की नहीं। ऊपर से विकल्प हीनता की कुंठा ने उन्हें आंधी का तिनका बना दिया।*[7]

हिजड़ों के सरदार बहुत से गैर कानूनी कार्य खुद भी करते हैं और उन्हें भी विवश करते हैं। जैसे- नशीली चीजों की खरीद-फरोख्त, देह व्यापार आदि। इसके अलावा मुख्यधारा के सभ्य समाज के तथाकथित सभ्य लोगों द्वारा हिजड़ों पर किए गए यौन अत्याचारों और बलात्कारों को भी उपन्यास में सामने लाने का प्रयास किया गया है।

चित्रा मुद्गल ने इस उपन्यास में जहां हिंजड़ों की समस्याओं के लिए समाज को दोषी ठहराया है, उतना ही दोष खुद हिंजड़ा समाज को भी दिया गया है। क्योंकि हिंजड़े जितनी प्रताड़ना खुद झेलते हैं उतनी ही आगे आने वाली पीढ़ी को भी देना चाहते हैं। *यह भीतर से खोखले और डरे हुए लोगों की जमात है। ये चाहते हैं, जिसे विशेष परिभाषा से उन्हें मंडित किया गया है, उसी रूप में ही सही, उनकी भी एक संगठित उपस्थिति समाज में बने। उनकी ताकत में इजाफा हो। ढूंढते फिरते हैं, जननांग विकलांगों को इसलिए कि कहीं से कोई टोह मिल जाए। गुरुपरंपरा से दीक्षित कर बनाए रखना चाहते हैं, उस एकता को जो उन्हें आपस में जोड़े रहे।*[8]

जरूरत है सोच बदलने की। संवेदनशील बनने की। सोच बदलेगी, तभी जब अभिभावक अपने लिंगदोषी बच्चों को कलंक मानकर किन्नरों के हवाले नहीं करेंगे। उन्हें घूरे में नहीं फेकेंगे। ट्रांसजेंडर के खाँचे में नहीं ढ़केलेंगे। यह पहचान जब उन्हें किन्नरों के रूप में जीने नहीं दे रहे समाज में, तो सरकारी मान्यता मिल जाने के बाद जीने देगी?[9] समाज के सामने यह चुनौती है।

संदर्भ

1. डॉ. इकरार अहमद, किन्नर विमर्श साहित्य के आईने में, वाङ्.मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्कारण 2017, पृष्ठ संख्या 39। **2.** चित्रा मुद्गल, पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्कारण 2017, पृष्ठ 11। **3.** वही, पृष्ठ 11। **4.** अनुसंधान त्रैमासिक शोध पत्रिका, अक्टूबर दिसंबर 2017, पृष्ठ 7 व 8। **5.** पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृष्ठ--9। **6.** अनुसंधान त्रैमासिक शोध पत्रिका, अक्टूबर-दिसंबर 2017, पृष्ठ संख्या 12 व 13। **7.** चित्रा मुद्गल, पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्कारण 2017, पृष्ठ संख्या 86। **8.** वही, पृष्ठ 86। **9.** वही, पृष्ठ 112।

एस.आर.एम. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान, चैन्नई
ई-मेल : krishnamithu880@gmail.com

अहिंसा-व्रत के लिए बापू की परिभाषा कुछ इस प्रकार है : 'केवल शरीर को निःशस्त्र करना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य का मन भी पूरी तरह निःशस्त्र होना आवश्यक है, सभी कड़वाहटों और दुर्भावनाओं से मुक्त, जहां आत्मदया, विद्वेष और घृणा पूरी तरह मिट गये हों।' सोचकर देखा जाये तो अकेले बापू ही अहिंसा में विश्वास करने वाले नहीं थे। बदी से नेकी से जीतने में आस्था रखने वाला हर व्यक्ति, समूह और समाज अहिंसा में ही भरोसा रखता है।

समकालीन हिंदी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ

डॉ. पी. बालाजी

नई सदी के अधिकांश उपन्यास वास्तविक घटना को लेकर काल्पनिकता की ओर प्रवाहित हो रहे हैं। किसी-न-किसी जीवन के विश्लेषणात्मक कथन को अक्षरों में कैद कर नई सदी के हिंदी उपन्यास पाठकों के मन में सजीव रहने लगे हैं। जब प्रेमचंद, प्रसाद, अज्ञेय जैसे उपन्यासकार तत्कालीन देश काल की परिस्थितियों को सामाजिक जीवन शैली को साहित्य रूप देने लगे थे, वर्तमान उपन्यासकार भी इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए समाज में आए परिवर्तनों को अपनी रचनाओं में लिपिबद्ध करने को प्रयासरत हैं और आजादी के बाद समाज को विवशता की मुद्रा से निकालकर, व्यापक अनुभवों और समर्थन से भारतीय सामाजिक जीवन को नवीन ऊर्जा से प्रस्फुटित किया। सत्ता और राजनीति के द्वंद्व, व्यक्ति और समाज की पड़ताल, पीढियों की दूरियां, बदलते संबंधों की छटपटाहट भारतीय समाज और जीवन में हो रहे परिवर्तनों को हिंदी उपन्यास ने सशक्त मुहावरे से पनपाकर कलात्मक बहुरंगी विविधता की समग्रता में भारतीयता की अभिव्यक्ति की। नई सदी के हिंदी उपन्यास आज के जीवन के यथार्थ की भयावहता, कड़वाहट, समय और समाज में आये परिवर्तन को इंगित करते हैं, जो मानवीय संवेदनाओं को चित्रित करने मैं सार्थक सिद्ध हुए हैं।

सामाजिक प्रवृत्तियाँ

'समाज' शब्द एक जनसमूह, समुदाय अथवा सम्मेलन का परिचायक है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति के अनुसार वह समाज, समुदाय या समूह में ही रहना पसंद करता है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। अतः व्यक्ति परिवार का अंग है तो- परिवार समाज का, समाज मजबूत बनाना है तो व्यक्ति और उसके परिवार में स्थायी भावना का होना अनिवार्य है। समाज मनुष्य जीवन का व्यापक और विस्तृत कार्यक्षेत्र है। साहित्यकार साधारण आदमी की तरह जीवन व्यर्थ न करते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की अच्छाइयों और बुराइयों को उजागर कर सामाजिक चेतना का द्योतक बना हुआ है। जिस काल की प्रवृत्तियाँ या जीवन शैली का आस्वादन करना हो तो वे उस काल के साहित्य का अध्ययन कर उस काल की समस्त गतिविधियों से अवगत हुआ जा सकता है।

साहित्यकार सम सामाजिक वायुमंडल में विचरण करते हुए विचारों की विद्युत तरंगों को ग्रहण कर साहित्य को अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। संक्षिप्त में कहा जाए तो

साहित्य की समस्त विधाओं पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य का सम्यक प्रभाव अपेक्षित है। साहित्यकार उपन्यास लेखन के समय अपनी परिधि विस्तृत कर लेता है क्योंकि समाज की किसी भी मान्यता या गतिविधि या वर्णन करने के लिए वह बंधा नहीं रहता उसे समाज में जो भी दृष्टिगोचर होता है अपनी प्रतिभा के सहारे उसे और भी रोचक बना देता है।

उपन्यासकार समाज और जीवन की विविध समस्याओं और परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है, तभी अपनी रचनाओं में उस प्रभाव को व्यक्त करता है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री माउरर ने लिखा है कि सामाजिक समस्याएँ समाज की बीमारियां हैं जो कि समूह के कल्याण को खतरे में डालती हैं। सामाजिक समस्याएँ ऐसे मानवीय संबंधों के क्षेत्रों में रहती हैं जिनमें यह जागरूकता हो कि व्यक्तित्व तथा सामूहिक व्यवहार वैसा नहीं है जैसा कि सामाजिक स्तर पर अपेक्षित है और उसके लिए कुछ-न-कुछ सामूहिक क्रिया की आवश्यकता है। मानव जीवन की समस्याओं एवं मान्यताओं का जितना सजीव उद्घाटन उपन्यासों में संभव हो सका है, साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव जीवन का जीवंत चित्र कहा है।

नई सदी के उपन्यासकारों ने बदलते हुए सामाजिक मूल्यों को अपने उपन्यास की विषयवस्तु बनाने में कोई संकोच नहीं किया। इसका उदाहरण कृष्ण सोबती के 'समय सरगम' उपन्यास में ईशान अपने वैयक्तिक जीवन से तंग आकर अरण्या नामक मध्यवयस्क महिला से दोस्ती करने लगता है। पाश्चत्य समाज में साधारण विषय मानी जाने वाली 'डेटिंग' तो अब भारतीय समाज में भी प्रवेश कर चुकी है, कोई अकेलेपन से तंग आकर अपनी भावनाओं को दूसरों से बाँटने के लिए साथी की खोज करता है। ईशान और अरण्या आधुनिक भारतीय समाज की विचारधारा की महक से बने हुए हैं। इतना ही नहीं उनकी मित्रता इतनी विकसित हो जाती है कि वे एक दूसरे के भले बुरे विषयों को दैनिक चर्चा का विषय बनाते हैं।"[1] खाने के वक्त ईशान का फोन था। हम एक साथ खाना लें तो कैसा। ईशान, मैंने कुछ पकाया नहीं। घर में यहाँ बन रहा है पहुँचा दूंगा। सिर्फ पंद्रह मिनिट इंतजार करना होगा। धन्यवाद ईशान। अरण्या उठी।.... नई सदी के उपन्यासकारों में मधुकांकरिया ने 'पत्ताखोर', संजीव ने 'जंगल जहाँ शुरू होता', 'सूत्रधार', निर्मलापांडे ने 'आवा' आदि उपन्यासों के द्वारा समाज में होनेवाली मनुष्यों मानवीय संवेदनाओं की सही पहचानने के लिए प्रयत्न किए हैं।

राजनीतिक प्रवृत्तियाँ

राजनीति का अर्थ राज्य के सम्यक संचालन से ही समझा जाता है। नई सदी के हिंदी उपन्यासों में राजनीति की विचारधारा महत्वपूर्ण बिंदु बन चुकी है। साधारण जनता में भी राजनीतिक जागरूकता आ चुकी है। ये महत्वपूर्ण बिंदुओं पर सूक्ष्म परिशीलन कर रहे हैं। भारत की राजनीति में अस्थायी लक्षण अधिक रूप में नजर आने लगे। रजेन्द्र ने 'ग्लोबल के देवता' उपन्यास में वर्तमान समय के बाबाओं की राजनीतिक शक्ति का उदाहरण देते हुए कहा कि आगामी चुनावों में बाबाजी ने पार्टी के टिकट वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाबाजी के खास भगतों को भी अच्छी संख्या में टिकट मिले। ऐसे भगतों में से एक लोकसभा, तीन विधान सभा में पहुँच गये।" भारत की राजनीति में बाबाओं की शक्ति बढ़ती जा रही है, वे देश को दिशा-निर्देश करने में सक्रिय हो रहे हैं।

अजहर वजाहत द्वारा रचित 'कैसी आग लगाई' उपन्यास में विश्वविद्यालय में उभरते हुए, युवा राजनेताओं की जीवनशैली, उनके युवा विचार के बारे में विशेष चर्चा प्रस्तुत करता है, विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच स्थित तनावपूर्ण स्थिति को प्रस्तुत करता है।"[3] आखिरकार मार्क्सवाद क्या है! नाम की एक बुकलेट मिली थी जिसे मैं पढ़ गया था।

कहीं-कहीं समझ में न आई थी। लेकिन जो समझ पाया था ठीक लगा था। मैं यह मानता था कि गरीबों और अमीरों के बीच जो खाई है उसे कम होना चाहिए। यह भी मानने लगा था कि दुनिया की भलाई मार्क्सवाद को अपनाने में हैं। राजी मुझे सोवियत यूनियन और चीन के समाज के बारे में ऐसे तथ्य बताता था कि मैं आश्चर्य में पड़ जाता था और लगता था वैसा समाज अपने देश में बनाना चाहिए।" उपन्यासों में मार्क्सवाद एक बड़ी राजनीतिक प्रवृत्ति बनी। राजनीति के द्वारा देश का रूप पूरी तरह बदला जा सकता है। राजनीति ही देश के उत्थान पतन का कारण बनती है। राजनीतिक दल अपने-अपने सिद्धांतों के आधार पर राष्ट्र निर्माण करते हैं, कोई राष्ट्र को सांप्रदायिक देश बनाना चाहता है तो कोई देश को लौकिकता के सूत्र में बांधना चाहता है। आधुनिक युग में हर देश अपने स्वाभिमान के साथ विश्व मंच पर खड़ा है। एक ही देश में भिन्न-भिन्न संप्रदाय होने पर, उन्हें सहयोग या प्रतिनिधित्व करनेवाले दल हों तो उस देश की राजनीति हमेशा सर चढ़कर बोलने लगती है।

आर्थिक प्रवृत्तियाँ

प्राचीन काल से ही मानव जीवन में आर्थिक परिस्थिति मुख्य भूमिका निभा रही है। इस नवीन युग में तो आर्थिक स्तर की प्रधानता इतनी बढ़ गयी है कि मानवीय मूल्यों का ह्रास होकर उसकी जगह आर्थिक मूल्यों की स्थापना हो रही है, मानव जीवन में धन का अत्यंत महत्व है। मनुष्य की इच्छाएँ आर्थिक कार्यकलापों के विकास में प्रेरणादायी बनती है। संपदा और श्रेय इन दोनों के बीच मजबूत संबंध होता है। साधारणतया किसी व्यक्ति की आर्थिक उन्नति ही उसके श्रेय की उन्नति कही जाती है। आर्थिक संपदा जनता के अस्तित्व को प्रभावित करने वाली महत्वपूर्ण वस्तु के रूप में जानी जाती है जो यथार्थ ही है।

मध्यवर्गीय परिवारों में आर्थिक स्थिति ऐसी होती है कि किसी भी काम के लिए कितना खर्च करना है पहले ही तय किया जाता है। 'आवा' उपन्यास में आर्थिक विषय संबंधी चर्चा इस तरह की गई है-- "तुम्हारा घर खर्च मोटा-मोटा कितने में चल जाता होगा? सोचकर बताओ जरा, मेडम वासवानी का स्वर संजीदा था। घर का बजट माँ बनाती है। कामगार अघाडी की तनख्वाह का लिफाफा आपने जाकर माँ के हाथ में पकड़ाया। लेकिन आघाडी के काम से इधर-उधर आने-जाने के लिए मिले किराये के पैसों को छिपा गई, पास सुविधा के चलते। साढ़े तीन हजार से कम में गुजर नहीं हो पाती, सकुचाते हुए उसने मुँह खोला। 'आय का स्त्रोत?' पंद्रह सौ के लगभग, माँ-श्रमजीवा से कमा लेती है। पंद्रह सौ मुझे आघाडी से मिल जाते थे। शेष छोटे-मोटे अन्य कामों से। अब स्थिति बदतर है।" मध्यवर्ग की स्थिति ऐसी होती है कि उन्हें कोई गरीब कहते हैं तो वे इस बात को नहीं मानते है लेकिन वे उच्च वर्ग के जैसे दिख नहीं सकते। मध्यवर्ग के परिवारों की आर्थिक स्थिति उनकी इच्छाओं को पूर्ण न कर पाती है ये अपना परिवार चलाने के लिए बहुत सावधानी से रुपये खर्च करने लगते हैं। 'आवा' उपन्यास में नमिता पांडे के परिवार की आर्थिक स्थिति उन्हें मुंबई शहर में जीवन जीने में नरक सदृश परिस्थितियाँ दिखाती हैं। वे दिन भर कमर तोड़ मेहनत करने पर भी महीना साढ़े तीन हजार कमा पाती है तो उन रुपयों में ही समस्याओं भरा जीवन जीने लगती है। आर्थिक स्थिति अच्छी रहती तो ही जीवन में खुशियों का आगमन होता है। यदि परिवार को इच्छाओं, सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करना हो, सुविधाजनक जीवन जीना हो तथा मानसिक आनंद पाना है तो आर्थिक रूप में सुदृढ़ होना अत्यंत आवश्यक सिद्ध हो गया है। उपन्यासों में आर्थिक परिस्थितियों से संचालित जीवन के विभिन्न पहलू प्रस्तुत हो रहे हैं।

सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ

संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं है, यह निरंतर

विकासमान प्रक्रिया है। समाज की मान्यताओं, मूल्यों एवं आदर्शों का भंडार है। संस्कृति समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। संस्कृति से ही समाज की जीवन शैली का निर्माण होता है। भारत अपनी संस्कृति की महानता के कारण जगद्गुरु कहलाया।"[5] भारतीय संस्कृति की विशेषता यह है कि वह अनेक धर्म और संप्रदायों की शिक्षा और विचारधाराओं के साथ लेकर चलती है। संस्कृति में चार तत्व विद्यमान रहते हैं--चरित्र, विज्ञान, साहित्य और धर्म। चरित्र का अर्थ है व्यापारिक, नैतिक और पारिवारिक चित्र। व्यापार में ईमानदारी होनी चाहिए। शरीर और परिवार में चरित्र की पवित्रता, नैतिकता पर निर्भर करती है। विज्ञान का अर्थ आत्मा का विशेष ज्ञान माना जाता है। आज विज्ञान में भौतिक पदार्थों के उपयोग का ज्ञान भी प्रधान माना जाता है। धर्म ही संस्कृति का मूल अंग है।"

भारतीय संस्कृति में एक विशेषता यह भी दिखाई पड़ती है कि कोई व्यक्ति पाप कर्म करता है तो उसे मिटाने के उद्देश्य से धर्मपूजा का सहारा लेने लगता है। 'जंगल जहाँ से शुरु होता है' उपन्यास में संजीव इस प्रकार के संदर्भ को उजागर करते हैं"[6] डाकू लोग आत्मशुद्धि के लिए लखरांव और कीर्तन करेंगे। सबसे पहले यह गुप्त सूचना पंडित दुआरिका दुबे ने अपने एक यजमान को दी। धरम का सत नहीं होता तो डाकू सब ठीक पाता? एक टिप्पणी। त-अ आप लोग का सोचते हैं, गौरमिंट लखरांव रोक देगा? हमारे जानते तो ऊपर से आदेश आया है कि धरम-करम में खुच्चड न किया जाए। मीटिंग के लिए निकलते हुए कुमार रुककर मुरली पांडे के घर पहुंचा। कुमार ने पांडे से लखरांव के बारे में पूछा, पांडे ने 'कोश' से ढूंढ निकाला। किसी महीने की कृष्ण चतुर्दशी को प्रदोष काल के पश्चात ही यह अनुष्ठान आरंभ करे। इसमें भगवान शिव का विधिवत् पूजन किया जाता है। इस व्रत से गौहत्या, ब्रह्म हत्या, गुरु, पत्नी या पर स्त्रीगमन, मद्यपान आदि महापातकों का नाश होता है।" भारतीयों की विचारधारा ऐसी है कि यहाँ सब लोग जन्म से मृत्यु तक किसी भी काम में संस्कृति और परंपरा का पालन करने लगते है। ऐसा कोई नियम तो नहीं है कि संस्कृति का पालन करने के लिए कोई पद, जाति या धर्म प्रमुख हो। कुछ वर्ष पूर्व जंगल से अपना राज चलाने वाला वीरप्पन अधर्म कार्य करते हुए भी पूजा-पाठ जैसे विधानों को महत्व देने लगा था। इस उपन्यास में डाकू अपने द्वारा किये गये पापों का निवारण करने के लिए हवन, यज्ञ कार्य करने की सोचने लगे, डाकू लोगों का मानना है कि सरकार तो डाकुओं का उन्मूलन करने की योजना बना रही है तो यज्ञ जैसे संस्कृतिक कार्यक्रम करने से फिलहाल पुलिस से छुटकारा मिल जायेगा।

आधुनिक युग के उपन्यासकारों की रचनाओं में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं संस्कृतिक समस्याओं का चित्रण समकालीन परिस्थितियों के आधार पर चित्रित किया गया है। आज चेतना के कारण इन समकालीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के समाधान ढूँढने में अनेक साहित्यकार सफल हुए हैं।

संदर्भ

1. समय-सरगम-कृष्णा सोबती- पृ.सं.105। **2.** ग्लोबल गांव के देवता, रजेन्द्र- पृ.सं.67। **3.** कैसी आग लगाई, असगर वजाहत- पृ.सं.126। **4.** आवां, चित्रा मृद्गल- पृ.सं.163। **5.** डॉ. ओम प्रकाश शास्त्री- आधुनिक निबंध भारती- पृ.सं.22। **6.** ग्लोबल गांव के देवता, रजेन्द्र- पृ. सं. 28।

गेस्ट फैकल्टी, हिन्दी विभाग
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
तिरुपति- 517502; आन्ध्र प्रदेश
मो.- 9959551589
ई-मेल : pbalaji64@gmail.com

तमिल उपन्यास साहित्य : एक विहंगावलोकन

डॉ. वासुदेवन 'शेष'

सामाजिक उपन्यासों के साथ-साथ ऐतिहासिक उपन्यासों की भी प्रवृत्ति तमिल उपन्यासों में पायी जाती है। अंग्रेजी साहित्य के ऐतिहासिक उपन्यासों के अध्ययन के कारण तमिल साहित्यकारों के मन में भी इस नई विधा की सृष्टि के प्रति प्रेरणा जगी। उन्हें अपने साहित्य में इस विधा का अभाव खटकने लगा । इस देश के अतीतकालीन वीर पुरुषों एवं रमणियों की कथाओं विगतकालीन सांस्कृतिक गौरव गरिमा आदि के प्रति उनका ध्यान गया तो यह स्वाभाविक ही है ।

तमिल का प्रथम मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास **मोहनांगी** सन 1895 में प्रकाशित हुआ। फिर उन्नीसवीं शताब्दी में न तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की कोई चेतना लेखकों में थी और न कोई उल्लेखनीय रचना ही प्रकाश में आयी। तमिल के प्रसिद्ध उपन्यासकार कल्कि के इस क्षेत्र में आगमन के पूर्व बहुत सीमित ऐतिहासिक उपन्यास ही देखने में आये। आज उनका केवल ऐतिहासिक महत्व ही स्वीकारा जाएगा। पहली बार तमिल उपन्यास साहित्य में कल्कि ने ही ऐतिहासिक उपन्यास की स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया । इस दृष्टि से कल्कि का तमिल के ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य में वही स्थान है जो हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा का है। कल्कि के ऐतिहासिक उपन्यासों का साहित्यिक महत्व असंदिग्ध है।

तमिल में प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास **मोहनांगी** के लेखक त्रिकोणमलै के. शरवणमुत्तु पिल्ले हैं। सत्रहवीं शती के नायक शासकों का काल इस ऐतिहासिक उपन्यास की पृष्ठभूमि है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को विकृत किये बिना इतिहासमूलक कल्पना का प्रयोग हुआ है। औपन्यासिक कला की दृष्टि से यद्यपि इस कृति का महत्व न हो तो भी ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में इसका महत्व है। कूड़लिंगम पिल्ले का **राणी मंगम्माल** (1903) उपन्यास इस काल की उल्लेखनीय रचना है। यह भी नायक युग की प्रिय शासिका रानी मंगम्माल की जीवनी पर आधारित है। वैसे यह एक सामान्य कोटि की रचना है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही **पिरिंतुल्ले** (1908) एवं **विद्यारण्य नगरम्** (1912) नामक दो उपन्यास लिखे गये। इनमें इतिहास का तथ्य इस क्रम में पूर्ण विवरण तो है, मगर औपन्यासिकता का अभाव है। वडलूर रामलिंग स्वामी की ऐतिहासिक रचना **मनुपुरै कण्ड वाचकम** (मनुनीति आख्यान) उल्लेखनीय रचना है। इसमें इतिहास और कल्पना का

समुचित संयोग है और लेखक का ऐतिहासिक विवेक श्लाघनीय है । ए. एस. पी. अय्यर का अंग्रेजी में लिखा ऐतिहासिक उपन्यास **बालादित्य** में तमिल प्रदेश के सोलहवीं शताब्दी के इतिहास प्रसिद्ध वीर पुरुष की कथा चित्रित है । इतिहास -सम्मत घटनाओं और विवरणों के साथ लेखक की सुन्दर कल्पना इस उपन्यास के महत्व का मुख्य कारण है। प्रसिद्ध अखबार लंदन टाइम्स ने इसकी प्रशंसा की है। आर पी कुप्पुस्वामी का **सत्यवल्ली** (1910) उपन्यास सोहलवीं शताब्दी के राजस्थान के इतिहास पर आधारित रचना है।

इस प्रारंभिक काल के ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाम मात्र के लिए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। उनमें यद्यपि इतिहास के तथ्यात्मक विवरण प्राप्त हैं, फिर भी युगीन वातावरण का विधान उतना नहीं पाया जाता है। इतिहास का उपयोग केवल नाम मात्र के लिए हुआ है, कल्पना का प्रयोग मात्रा से अधिक है। ऐतिहासिक रचनाओं के लिए वांछित ऐतिहासिक विवेक का अभाव-सा है। कहीं कहीं इतिवृत्तात्मकता के होने से वे जीवनी-सदृश जान पड़ते हैं।

तमिल ऐतिहासिक उपन्यास को अभूतपूर्व रूप में विकसित करके ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्राप्त करानेवाले लेखकों में कल्कि का नाम उल्लेखनीय है। पहले की अपेक्षा सशक्त ऐतिहासिक आधार ग्रहण कर, मानवीय संवेदनाओं पर विशेष ध्यान रखते हुए, सांस्कृतिक दृष्टि के साथ लिखित कल्कि के उपन्यासों के द्वारा तमिल में ऐतिहासिक उपन्यासों की एक सुदृढ़ परम्परा का आविर्भाव हुआ। हिंदी में वृन्दावनलाल वर्मा के समान तमिल में कल्कि युग-प्रवर्तक ऐतिहासिक उपन्यासकार थे। उनके तीन ऐतिहासिक उपन्यासों **पार्तिपन कनवु** (पार्तिप का सपना 1941-43), **शिवकामियिन शपदम** (शिवकामी की शपथ 1944-46) तथा **पोन्नियिन शेल्वन** (कावेरी का पुत्र 1950-54) ने उन्हें पर्याप्त यश दिलाया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध यूरोपीय कथाकारों की भाँति कल्कि ने भी प्रभावाली दृश्य-वर्णन और कथाओं की सृष्टि की है। बंकिमचंद्र चटर्जी, हरिनारायण आप्टे जैसे बँगला, मराठी कथाकारों में प्राप्त राष्ट्रीय चेतना कल्कि में भी प्राप्त है। यूरोप के डिकेन्स का हास्य, थैकरे का यथार्थ चित्रण आदि के साथ प्रभावशाली ढंग से उपन्यासों की सृष्टि करने में वे अपनी बराबरी नहीं रखते। ऐतिहासिक तमिल उपन्यासों की परम्परा में कल्कि के शिवकामियिनि शपदम का विशेष महत्व है। इसमें इतिहास की गरिमा के साथ औपन्यासिक कला का कौशल प्रदर्शित है। हिंदी में वृंदावनलाल वर्मा की भाँति कल्कि की ऐतिहासिक कृतियों में भी स्वाधीनतापूर्व भारत की समस्याओं को अधिक प्रमुखता प्राप्त है। भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जनता को स्फूर्तिदायक संकेत एवं उत्साह देने और उसमें बाधक तत्वों जैसे मिथ्याभिमान, दंभ, घरेलू फूट, कलह, अदूरदर्शिता आदि के प्रति घृणा जगाने में कल्कि अधिक सफल रहे हैं।

शाण्डिल्यन कल्कि युग के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने लगभग 40 ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं **जीव भूमि** (1953), **कडल पुरा** (1967), **राज मुद्रै** (1972), **यवनरानी** (1963), **जनमोहिनी** (1975) आदि। जीवभूमि उपन्यास राजस्थान के इतिहास पर आधारित है। शाण्डिल्यन इतिहास के तथ्यात्मक विवरण की प्रामाणिकता पर विशेष आग्रह दिखाते हैं। पर उनकी रचनाओं में शृंगारिकता की प्रवृत्ति अधिक हो गयी है। कल्कि के समान आप भी पृष्ठ-कथा संगठन के प्रति विशेष ध्यान देते हैं। इस कारण उनमें रंजक प्रवृत्ति अधिक है। पाठकों के बीच वे अधिक लोकप्रिय हुए हैं। बालकृष्ण नायडु का **डणायक्कन कोटै** (डणायक्कन दुर्ग 1955), अठारहवीं शती के लिए टीपू सुल्तान द्वारा अंग्रेजों के शासन को समूल उखाड़ने के प्रयत्नों का चित्रण करता है । अरू. रामनाथन के **अशोकन कादलि** (अशोक की प्रेमिका

1948) में सम्राट अशोक के इतिहास प्रसिद्ध कलिंग युद्ध और तत्पश्चात उसके हृदय परिवर्तन की घटना का कलात्मक चित्रण है। इसमें इतिहास और कल्पना का समुचित निर्वाह हुआ है।

इस युग को लेखन-दृष्टि से देखें तो कल्कि ने अपने उपन्यासों में अतीत कालीन तमिल प्रदेश की सांस्कृतिक गरिमा, वैभव एवं उत्कर्ष को अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रदर्शित किया। उनकी रचनाएं पाठकों को तमिल प्रदेश के इतिहास के मर्म को जानने एवं उसकी अतीतकालीन गरिमा और वैभव से पुलकित होने का अवसर प्रदान करती हैं। इस युग में इतिहास के प्रामाणिक तथ्यविवरण को प्रस्तुत करने की ओर लेखकों का ध्यान अधिक गया और चरित्र चित्रण को प्रमुखता देने में भी विशेष प्रयत्न रहा। शाण्डिल्यन अपनी कृतियों में विस्तृत फलक अपनाकर तमिल प्रदेशों के बाहर भी इतर प्रदेशों के इतिहास से प्रेरणा लेकर भारतीय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

कल्कि के बाद तमिल के ऐतिहासिक उपन्यासों के विकास में योगदान देनेवाले समर्थ लेखक हैं अखिलन, विक्रमन, ना. पार्थसारथी, कोवि, मणिशेखरण, ते.पेरूमाल आदि। अखिलन के **वैंगैयिन मैन्दन** (चीते का पुत्र 1962), **कयलविलि** (मीनलोचनी 1965), **वैटितिरूनगर** (विजय नगर 1960) आदि प्रमुख उपन्यास हैं। **वैंगैयिन मेंदन** ग्यारहवीं शताब्दी के इतिहास प्रसिद्ध चोल नरेश राजराजन चोलन की, सिंहल द्वीप और अन्य सुदूर पूर्व देशों पर रानीतिक विजय तथा उसके शासन कार्य की महिमा को चित्रित करता है । लेखक ने राजराजन के वैयक्तिक गुणों को चित्रित कर राजराज चोलन के चरित्र के उद्घाटन में पर्याप्त सफलता पायी है।

वैट्रितिरूनगर की रचना में राष्ट्रोत्थान की भावना प्रेरक रही है। विजयनगर साम्राज्य के पतन के कारणों का विश्लेषण भी मार्मिक ढंग से किया गया है। पतनशील राष्ट्र के लोगों के मन में नयी स्फूर्ति उत्पन्न करने में यह सफल रहा है। विक्रमन के उल्ल्लेखनीय उपन्यास हैं **नन्दिपुरत्तु नायकि** (नन्दिपुरम की नायिका 1964), **कांची सुन्दरी** (1978), **राजदिन्तन शपदम** (राजादित्तन की शपथ 1966), **कुलोतुंगन शपदम** (कुलोत्तुगी की शपथ 1964), **पारिवादिनी** (1960), **उदय चंद्रन** (1978), **त्यागवल्लभन** (1979), **आलवाय अरसि** (मदुरै की रानी 1971)। नन्दिपुरत्तु नायकि में कल्कि के अन्तिम उपन्यास पोन्नियिन शेल्यन की कथावस्तु के उत्तरार्द्ध का विस्तार है। इसमें इतिहास और साहित्य दोनों का सम्मिश्रण है। ऐतिहासिक तथ्यों और विवरणों के संग्रह और उसके कलात्मक प्रस्तुतीकरण में विक्रमन कल्कि से भी आगे बढ़ गये हैं।

जगचिर्पियन कल्कि-परवर्ती काल के उल्लेखनीय उपन्यासकारों में हैं, जिनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं **कोमकन कोसलै** (राजकुमार कौसल 1976), **मकर यालु मंगै** (मकर वीण सुंदरी 1961), **आलवाय अलगन** (मदुरै का नायक 1973), **तिरूचिट्रम्बलम** (1974), **नन्दिवर्मन कादलि** (नंदिवर्मन की प्रेमिका 1976) आदि। उनमें कुछ चोल वंश और कुछ पल्लव वंश के इतिहास पर आधारित रचनाएँ हैं । **आलवाय अलगन** में तेरहवीं शती के प्रथम दशक में इतिहास प्रसिद्ध मारवर्मन सुन्दर पाण्डियन की शासन कुशलता, धार्मिक चेतना, ईश्वर भक्ति, तमिल प्रेम आदि का कालात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उनका मकर यालु मंगै पल्लव काल के इतिहास प्रसिद्ध नरेश राजसिंहन द्वारा निर्मित कांचीपुरम नगर के कैलाशनाथ मंदिर जैसी युगीन सांस्कृतिक हलचलों का चित्रण है। अपने उपन्यासों में जगचिर्पियन तमिल प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन व उसके उत्थान को प्रकाश में लाने का प्रयास करते हैं।

ना.पार्थसारथी ने चेर, चोल, पांड्य राजवंशों के इतिहास पर आधारित अब तक पाँच ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उनमें **पडिमा देवी**

(पाण्डय राजमाता 1962), **वलंबुरि संगु** (दक्षिणपार्श्व शंख 1965), **नित्तिलवल्लि** (1970) **कपाटपुरम** (1967) आदि पाण्डय राजवंश के इतिहास पर तथा **वंजिमानगरम** चेर राजवंश के इतिहास पर तथा **मणिपल्लवम** (1966) चोल राजवंश पर आधारित हैं। **रानी मंगम्माल** (1980) उनका नवीनतम उपन्यास है। इसमें पांडय रानी मंगम्मा के शासन का सुन्दर सजीव वर्णन है। **देवदेवी** (1960), **दक्षिण भयंकरन** (1976), **रानी वेलुनायिच** (1970), **चेम्बियन शेल्वि** (1971), **तेन्नवन पिराटिट** (1972), **मणिमण्डपम** (1973), **सम्राट अशोकन** (1979), मणिशेखरन के कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। कल्कि परवर्ती काल के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में इन्होंने संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक रचनाएँ लिखी हैं। इसके अतिरिक्त मी.प.सोमु, कण्णदासन आदि उपन्यासकार भी उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में ऐतिहासिक उपन्यासकारों की दृष्टि और इतिहास ज्ञान इतना विस्तृत हो गया है कि वे तमिल प्रदेश के इतिहास के अतिरिक्त भारत के इतर प्रदेश के इतिहास से भी प्रेरणा पाकर ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करने लगे हैं। इन असंख्य उपन्यासकारों ने तमिल प्रदेश के प्राचीन काल के चेर, चोल, पांडय राजाओं के काल के जीवन और संस्कृति को अपने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा चित्रित कर प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा को वर्तमान युग के पाठकों के सामने स्पष्ट उभारने का प्रयास किया है। कल्कि युग की अपेक्षा इन उपन्यासकारों में इतिहास चेतना तीव्र, साहित्यक ज्ञान गहरा और औपन्यासिक कला की सजगता अति स्पष्ट परिलक्षित है। इन उपन्यासकारों ने ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से विगत कालीन मानवों की संवेदनाओं, आशा-आकांक्षाओं, निराशाओं, सुख-दुखों और विचार पद्धतियों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर शाश्वत मानव मूल्यों पर विशेष बल दिया है। कुल मिलाकर यह माना जा सकता है कि भविष्य में ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में गुणात्मक वृद्धि होगी और प्राचीन सांस्कृतिक जीवन समग्र रूप में हमारे सामने स्पष्ट होगा ।

सत्तरोत्तर काल खण्ड में तमिल उपन्यासकार आज के सामाजिक यथार्थ का कितना साक्षात्कार कर सका है, इसे जानना होगा। इस दशक के कुछ विशिष्ट और सामान्य उपन्यासों के आधार पर समकालीन लेखन की मूल प्रवृत्ति और प्रकृति का अध्ययन किया जा सकता है। इसके आधार पर हम जान सकते हैं कि आज के लेखक ने जिस समाज का चित्रण किया है उससे उसका कितना गहरा परिचय है और वह किन जीवन मूल्यों को प्रतिपादित करना चाहता है। आज के रचना प्रसंग में जीवन स्थितियों की जाँच करते हुए हम कुछ मुख्य बिंदुओं पर संकेत कर सकते हैं। पहला संकेत है अर्थ केन्द्रित जीवन सुविधाओं के विरुद्ध सामान्य व्यक्ति का संघर्ष जिससे वर्ग भेद उखड़ सके और मनुष्य समान अवसर पर आ सके। दूसरा संकेत है कि स्त्री-पुरुष संबंधों में तनाव एवं कटुतापूर्ण रिश्ते और स्त्री का अपनी पहचान पाने का संघर्ष। तीसरी बात है परम्परा के प्रति एक ओर लगाव तो दूसरी ओर उससे कटकर मुक्ति पाकर समकालीन जीवन यथार्थ के साथ जुड़ने की तीव्र ललक । पहला समाजशास्त्र से, दूसरा मनोविज्ञान से और तीसरा कलात्मक मूल्यों से संबंधित है। मगर ये तीनों ही बातें एक-दूसरे से कार्य-कारण संबंध सूत्रों से जुड़ी भी हैं।

साठोत्तरी उपन्यासकारों में सशक्त रचनाकार नील, पद्मलाभन सत्तरोत्तर में भी सक्रिय रहे हैं। इस दशक की उनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं। **पल्लिकोण्डपुरम** तथा **उरवुकल**, पल्लिकोण्डपुरम में एक शोक विह्वल मानव का चित्रण है जो उससे मुक्त होने के लिए संघर्षशील है। उरवुकल में भी इसी प्रकार पीड़ित व्यक्ति की मानसिक व्यथा का विस्तार से चित्रण हुआ है। इस दशक का एक अन्य

उल्लेखनीय हस्ताक्षर है नकुलन। **निनैवुप्पादे, नायकल, नकुलनिन डायरी** इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें मानव के अकेलेपन का संत्रास तथा उसके वैयक्तिक अनुभवों के इर्द-गिर्द कथा का ताना बाना बुना गया है। नकुलन के कथा पात्र अपनी मानसिक उलझनों से अपने आपको मुक्त करने के प्रयास में लगे रहते हैं। मगर उनकी कृतियों में सामाजिक परिवेश का गहरा चित्रण यदा कदा ही होता है और इस वजह से पात्रों को सही परिवेश में समझने में पाठकों को कठिनाई महसूस होती है ।

ति. जानकीरामन पहले ही अपने रचित सशक्त उपन्यास **मोह मूल, अम्मा वंदाल** द्वारा तमिल उपन्यास के क्षेत्र में अपना प्रभाव डाल चुके हैं। उनकी रचनाओं में मुख्य रूप से सेक्स की समस्या चर्चित है। आज की जटिल सामाजिक स्थितियों में सेक्स की समस्या अवश्य ही एक जबरदस्त समस्या है। खासकर तेजी से परिवर्तनशील आज के भारतीय परिवेश में दाम्पत्य जीवन में सेक्स के कारण उत्पन्न समस्या समसामयिक जीवन की एक कटु वास्तविकता है । अतः इसे एक जबरदस्त समस्या के रूप में चित्रित करने में कुशल लेखक ति. जानकीरामन **(मरप्पुशं)**, इंदिरा पार्थसारथी **(हेलिकाप्टरकल)**, जयकांतन आदि कथाकार पाठकों के बीच अपना विशेष प्रभाव डालने में समर्थ हुए हैं। ये परंपरागत पारिवारिक रिश्ते को न्यायसंगत भी ठहराते हैं, मगर सामाजिक जटिलता के रूप में सेक्स की समस्या कलात्मक बारीकी के साथ चित्रित होने से रह गयी है, सतही रूप से ही सामाजिक दृष्टि से इस जटिल समस्या को समझाने में ये उपन्यास सहायक बने हैं।

पश्चिमी साहित्यिक उपन्यास विधा की नींव यहाँ अब एक शताब्दी के अंतर्गत पक्की होने लगी है। उसका तेजी से विकास हो रहा है। अपने पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रारंभिक युग के सांस्कृतिक मूल्यों की पुनःस्थापना की प्रवृत्ति आदि को विकसित करना होगा। यही नहीं, आनेवाले दशकों में उसे साहित्यिक कौशल से प्रयुक्त करना होगा । वर्तमान उपन्यासकारों के मन में पाठकों की वाह वाही ओर शाबाशी पाने की कामना से प्रेरित होकर केवल कथा कहने की सीमित प्रवृत्ति पायी जाती है।

तमिल साहित्य ने अपने काव्य-पुराण बहुविधा प्रबंधों आदि के माध्यम से अपनी प्राचीन परम्परा को सम्पन्न एवं पुष्ट किया है। उपन्यास और कहानी इन दोनों को अर्थात कथा साहित्य को भी हम साहित्यिक महत्व तभी प्रदान कर सकेंगे जब तमिल भाषा की शक्ति के समुचित उपयोग द्वारा कथा साहित्य को पुष्ट कर सकें। दूसरे शब्दों में उपन्यासकार को मनोरंजन या शाबाशी पाने के सीमित उदेश्य से कथा कहने के प्रलोभन से बचना होगा और इस नयी साहित्यिक विधा को गंभीर साहित्यिक चेतना और जागृति के रूप में स्वीकार करना होगा। पाश्चात्य देश से आयी इस नवीन विधा के स्वस्थ प्रभाव को स्वीकारने में संकोच नहीं करना है। तमिल संस्कृति को भूल, इसकी विविध शैली शिल्पगत विशेषताओं को आँख मूंदकर स्वीकारना तमिल संस्कृति तमिल परम्परा एवं तमिल जनता के हित में नहीं हो सकता। इस बात का विस्मरण नहीं करना चाहिए कि तमिल के आज के सर्वोत्तम उपन्यासों के लेखकों को पाश्चात्य साहित्यिक कृतियों को पढ़ने और आत्मसात करने का मौका नहीं था। भारतीय परम्परा एवं जातीय विचारों के अनुकूल चलकर ही इस विधा को स्वस्थ रूप में विकसित किया जा सकता है।

सी जी4 अक्षय फ्लैट्स 53 लरूसहा स्ट्रीट,
नजदीक आईस हाउस, त्रिप्लिकेन
चेन्नई-600018
मो. 9444170451

●

बहु आयामी साहित्यकार : कवि कुसुमाग्रज वि.वा. शिरवाडकर

सन् 1987 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित मराठी साहित्यकार कुसुमाग्रज कवि, कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, पत्रकार, यात्रावृत्तांतकार, समीक्षक एवं डायरीवृत्तकार के रूप में जाने जाते हैं। बहु आयामी विविध प्रकार का बहुलेखन उन्होंने किया है। पर कवि रूप सर्वोपरि रहा है। विद्यार्थी जीवन में किशोरवय की भावनाओं की उत्ताल तरंगों से मन मानस उद्वेलित हो उठा और भाव को शब्द रूप प्राप्त हुआ। सन् 1929 में उनकी पहली कविता छपी। कॉलेज जीवन में उनकी कविताएँ "जीवन लहरी" नाम से प्रकाशित हुई। 'विशाखा' 'समीधा' 'किनारा' के बाद 'मराठी माती' को सन् 1960 का, 'स्वागत' को 1962 का, और 'हिमरेखा' को 1964 का राज्य पुरस्कार प्राप्त हुआ। अब तक कवि के रूप में साहित्य जगत में 'कुसुमाग्रज' नाम से प्रस्थापित हो गए थे। 'कुसुम' उनकी छोटी बहन लाडली, दुलारी और उसके अग्रज "कुसुमाग्रज"।

कुसुमाग्रज की कविता अनुभवों की उत्कटता का सुन्दर रूप है। "स्व" का प्रदर्शन उनके स्वभाव में नहीं । एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "कवि सामाजिक मन को व्यक्त करता है तब वह वस्तुतः कहता तो वह अपने ही मन की बात परन्तु व्यापक रूप में वह समाज की संपत्ति होती है। वह समाज में मौजूद किसी भी मनोभाव को अधिक व्यापक रूप में आत्मसात करने में समर्थ होता है। उसे अपने अंतरतम तक ले जा सकता है। 'कुसुमाग्रज' का मन "स्व" की संकुचित परिधि को लांघ कर कहीं छलांग लगाता मन है इसी कारण उसकी मनोभिव्यक्ति समाज मन की अभिव्यक्ति है। "विशाखा" काव्य संग्रह की अनेक कविताएँ इस सत्य को व्यक्त करती हैं।

अपने में विश्वरूप की व्यापकता का दर्शन करने वाले कवि कुसुमाग्रज मात्र प्रकृति के कवि या प्रेमगीत गायक नहीं हैं। प्रकृति उनकी कविता है, चिंतन का विषय है। नदी, संध्या, जलाशय, पुनव, धरा, वृक्ष, ऋतु ये सभी अपने रूप, रस, गन्ध से सीधा नाता जोड़ते हैं। मानव का दुख, उसकी वेदना, उसकी बेबसी, उसकी विवशता, उसका एकाकीपन, उसकी असहायता और निसंगता उनके मन में एकरूप हो जाते हैं, उनमें उदात्तता, भव्यता, अति मानवता, दयार्द्र करुणा भाव का जबरदस्त आकर्षण रहा। वे कवि तो थे ही साथ ही नाटककार भी। अतः काव्यात्मकता और नाट्यात्म-कता का मधु संगम उनकी कविता है। संघर्ष और शांति, मानव मन की क्षुद्रता और दुर्बलता के साथ-साथ उसकी मृत्युंजयता निर्भयता और अति मानवता का उत्कृष्ट रूप उनकी कविता में दिखाई पड़ता है। "पृथ्वी चे

प्रेम गीत" और "कोलम्बस चे गर्वगीत" ये दो कविताएं ही इसका परिचय करा देने के लिए पर्याप्त हैं। "कोलम्बस का गर्वगीत" कविता में *अनंत हमारी ध्येयासक्ति, अनंत हमारी आशा रे! पामर! लख लाभ तुझे, किनारा"* जैसी काव्यपंक्तियाँ कर्तव्यपथ पर सहस्र कांटों को पार कर आगे बढ़ जाने का चैतन्य प्रदान करती हैं। कवि महर्षि गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर की एकला चलो रे कविता की पथेर कांटा, रक्त मारवा चरन तले' का स्मरण करा देती हैं।

कवि को दीर्घायु का लाभ प्राप्त हुआ था। जीवन के अंतिम क्षण तक कविता उनके साथ रही। इस दीर्घ काल में उन्होंने आजादी के पूर्व के भारत और आजादी के बाद के भारत (सन् 1999 तक) का सूक्ष्म अवलोकन किया था। आजादी के पूर्व भारत के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की महत्वपूर्ण आकांक्षा रही 'स्वतन्त्रता'। भारत माता को परतंत्रता थी शृंखलाओं से मुक्त करने के लिए राम प्रसाद बिस्मिल, शहीद भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, राजेन्द्र लाहिरी जैसे महान देशभक्त फांसी के फन्दे पर झूल गए। इन महान देश प्रेमियों के देश प्रेम से सारा देश प्रक्षुब्ध हो उठा था। "करो या मरो" के नारे ने देशवासियों को आजादी के हवन कुंड में प्राणों की समिधा अर्पित करने के लिए उद्धत किया था। कवि कुसुमाग्रज इन स्थितियों को बड़ी सजगता से निहार रहे थे। क्रांति का यह अंगार उनके साहित्य-कविता, कथा, उपन्यास और नाटकों - में व्यक्त हो रहा था। सशस्त्र क्रांति में उनका प्रत्यक्ष सहभाग नाम मात्र को ही रहा पर साहित्य द्वारा सामाजिक क्रांति में सक्रिय रहे। "करो क्रांति का जय जय कार", "कोलम्बस का गर्व गीत" जैसी कविता लिख कर कवि ने जन मानस को चेताया। "करो क्रांति का जय जय कार" कविता तो स्वतन्त्रता-मन्त्रक घोष बनी। इस कविता ने इतिहास रचा। कविता में भावनाओं की व्यापकता और उत्कटता तो है ही साथ ही शब्दों की तरलता, आत्म प्रत्यय और विश्वास जाग्रत करने और संवर्धित करने की अद्‌भुत शक्ति क्षमता है।

देश आजाद हुआ। एक सुखद स्वप्न की पूर्णता हुई। लक्ष्य प्राप्त हुआ। पर आजादी सहस्र प्रश्न लेकर सामने आई। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के "रंगभूमि" का एक पात्र सूरदास सवाल करता है- "क्यों भैय्या! सुराज आने पर हमारे दुख दलिद्दर खतम हो जाएँगे?".... आजादी तो मिली पर परिस्थितियों में कोई फरक नहीं पड़ा। उल्टे परिस्थितियाँ और विकट विकराल रूप धारण कर बैठी। विभाजन ने अन्न, वस्त्र, आवास समस्या को जटिल बना दिया। नीचले तबके के लोगों को दो कौर खाने के लाले पड़ गए। हाड तोड़ मेहनत करता किसान दुख दारिद्य और कर्ज के बोझ तले तो था ही, वह वैसे हो मरा था और अब परिस्थितियों का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पाकर आत्महत्या भी करने लगा। कवि मन आहत हो उठा। इन स्थितियों को देखकर वह क्षुब्ध हो उठा। स्वातन्त्र्योत्तर काल की परिस्थितियाँ जिनमें दुख दारिद्र्य, दांभिकता, स्वार्थ, हिंसा मारकाट, छल कपट, धूर्तता, अहं, अत्याचार, अनाचार, स्वैराचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार चरम सीमा पार कर गया उसका प्रत्यक्ष चित्र कवि कुसुमाग्रज की कविता में व्यक्त हुआ है।

सन् 1970 के बाद की लिखी कविता में कवि का सामाजिक दृष्टिकोण तो विशेष रूप में वृद्धिगत हुआ। व्यंग्य, उपहास तीक्ष्ण रहा- *हजार झूर्रियों पड़ा शरीर सिर्फ हड्डियों का ढांचा । वह आदिवासी स्त्री पर्वत की कपारी से छिपकली की तरह चिपकी आश्चर्य भरी निगाहों से देख रही थी। उसके सूखे झूलते हुए स्तन की एक गठरी पर से झूलता "हमारा पार्लमेन्ट" और दूसरे स्तन की गठरी पर से झूलता "हमारा सम्मेलन"। आश्चर्यम्।*

किसी गरीब जरूरतमंद को कभी साहब, नेता दाल-चावल-आटा, दूध, सब्जी, कभी कपड़ा, कभी कुर्ता, फटी साड़ी, चद्दर की सहायता कर देता है पर बदले में उसे अपनी जवान बेटी कुर्बान करनी पड़ती है। बूढ़ा अवाक् है। यह स्थिति भयावह है। चिंतनीय और विषण्ण मनस्थिति। समाज का जीवन सर्वत्र भ्रष्टाचार में लिसडा हुवा है। सर्वत्र निज स्वार्थ, ऐसे स्वार्थी और आत्मस्वाभिमान को बेच कर जीते व्यक्ति को कवि कुसुमाग्रज कहते हैं "उसकी लंगोटी

में झालर है मोतियों की, और चिलम है सोने की।"

समाज का बुद्धिवादी चिंतनशील वर्ग चुप है। हतबल है। बलात्कारी को दंड देने में असमर्थ है। अपने मन की भड़ास निकालने के लिए प्रोफेसर मुल्हेरकर कागज पर बलात्कारियों के चित्र बनाते हैं और तेज धारदार चाकू से चित्र पर सपासप वार करते हैं, कागज तार-तार हो जाता है। उनका क्रोध शान्त हो जाता है। बिस्तर पर जा सिर तक चादर ओढ़े सो जाते हैं। सुबह तड़के में उठ कर आईन्स्टाईन पर नोटस् निकालने बैठ जाते हैं। बुद्धिवादी प्रोफेसर और कर भी क्या सकता है? कितना बड़ा व्यंग्य और उपहास है। यह है जीवन की विडम्बना!

सन 1944 से इस कवि ने नाटक लिखना प्रारंभ किया। "दूरचे दिवे", "दूसरा पेशवा", "ययाति देवयानी बेकेट" जैसे श्रेष्ठ नाटक लिखे। ययाति देवयानी की कथावस्तु महाभारत की कथा मात्र नहीं है उसमें एक नवीन अर्थ, नवीन रूप, नवीन सौन्दर्य, नवीन चेतना और मनुष्य की मनुष्यता की तलाश है। शिरवाडकर जी के नाट्य कौशल का उत्तुंग शिखर है "नट सम्राट" नाटक। इस नाटक को सन् 1971 का महाराष्ट्र राज्य का और 1974 में साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ। एक प्रतिभा-संपन्न कलाकार के जीवन के दुखान्त और वार्धक्य के जीवन का अभिशाप सिद्ध करते इस नाटक को प्रचुर ख्याति तो मिली ही साथ ही भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ, मंचित हुआ और महाराष्ट्र फाउण्डेशन अमेरिका वाशिंगटन संस्था द्वारा पूरे अमेरिका में मंचन और दूरदर्शन पर इसे प्रसारित किया गया। वर्ष 2020 में इस नाटक का अर्धशती समारोह संपन्न हुआ। नाटक की अर्धशती मनाये जाने का यह प्रथम विश्व विक्रम है।

गीतों की सुरीली तान को झंकृत करने वाले, क्रांति का जय जयकार करने वाले, कवि भावना के स्पंदन का और उसकी धड़कन को नाटकों में शब्द रूप प्रदान करने वाले कवि नाटककार कुसुमाग्रज उपन्यासकार और कथाकार भी हैं। "वैष्णव" व "जाह्नवी" उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। वे शताधिक कहानियों के प्रणेता हैं। उनकी कहानियों की विशेषता है उपेक्षित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति एवं मानव स्वभाव की सद्प्रवृत्त की ओर देखने का दृष्टिकोण।

इस प्रकार कुसुमाग्रज वि.वा. शिरवाडकर मराठी साहित्य सृष्टि के ज्येष्ठ कवि, एक व्यापक संस्था रूप व्यक्तित्व हैं। नाशिक शहर के भूषण हैं। अपने विषय में कुछ कहने को कम उत्सुक, अन्यों की भावना को आँखों से पढ़ कर समझने वाले दूसरों का आदर करने वाले इस तपस्वी कलाकार का अन्तःकरण सागर जैसा विशाल, पतित पावनी गंगा जैसा निर्मल हृदय, आकाश की अनन्तता को समाये धैर्य और शांति का मूर्तरूप, जीवन के सुख दुख को नगाधिराजवत सहन करने की अद्भुत क्षमता लिए यह अद्भुत विलक्षण व्यक्तित्व 90 मार्च सन् 1999 में अनंत में विलीन हो गया। उनके अनेक रूपों को एक ही समय में एक ही चित्र में चित्रित करना संभव नहीं, इसी प्रकार कुसुमाग्रज जी के बहुआयामी व्यक्तित्व का मूल्यांकन कुछ पृष्ठों में संभव नहीं है।

अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति "सनातन" उपन्यास

के. के. बिड़ला फाउन्डेशन का सन 2020 का "सरस्वती" पुरस्कार डॉ शरण कुमार लिंबाले को दिये जाने की घोषणा में कहा गया कि "हमने लेखक की जाति या उसके पद और प्रतिष्ठा का विचार नहीं किया बल्कि रचना की अर्थवत्ता को समाज के लिए उपयुक्तता व स्वस्थ्य दृष्टि प्रदान करती कृति का ही हमने विचार किया है।" डॉ. शरण कुमार लिंबाले को उनके मराठी में लिखित "सनातन" नामक उपन्यास के लिए यह "सरस्वती" सम्मान मिला। प्रशस्ति पत्र एक पट्टिका और पंद्रह लाख रुपये नकद राशि इस पुरस्कार का स्वरूप है।

डॉ. शरण कुमार लिंबाले हिन्दी साहित्य जगत में जाना पहचाना व्यक्तित्य है। कवि कथाकार निबंधकार और मुक्त चिंतनपरक लेखन करते डॉ. लिंबालेजी को "अक्करमाशी" आत्मचरित्र परक उपन्यास से विशेष पहचान मिली। डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने हिन्दी में इस कृति का अनुवाद किया और "हंस" पत्रिका के

माध्यम से ये चर्चा में आए। देखते-देखते "अक्करमाशी" का अनुवाद अंग्रेजी में "आउटकास्ट" आक्सफोर्ड से छपा। इस पुस्तक ने तहलका मचा दिया। गुजराती, मलयालम, बंगला, कन्नड, तमिल, तेलुगु और स्वीडिश में भी इस अक्करमाशी का अनुवाद हुआ है। **शरण कुमार जी ने अपने एक वक्तव्य में कहा है कि यदि इस पुस्तक का डॉ. रणसुभेजी ने हिन्दी में अनुवाद न किया होता तो मैं मराठी के एक छोटे दायरे में ही सीमित होता।** शरण कुमार लिंबाले जी ने चालीस से भी अधिक पुस्तकें लिखी हैं। अक्करमाशी उनका आत्म चरित्र है। अक्करमाशी का अर्थ है अनौरस संतति, जारज, अनैतिक संबंधों से उत्पन्न। अक्करमाशी शब्द का प्रयोग अभद्र अशिष्ट शब्द गाली के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। पिता सवर्ण लिंगायत से माता अस्पृश्य महार स्त्री की कोख से जन्मे शरण कुमार लिंबाले को बचपन से ही दरिद्रता और अभावों का सामना करना पड़ा था। पेट की आग बुझाने के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी थी, अपमानित होना पड़ा था। सवर्णों की जूठन पर पले बढे शरण कुमार लिंबाले जी को पढ़ने का भारी शौक था। प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने पढ़ाई की। शिवाजी यूनिव्हर्सिटी से एम.ए. और नासिक के यशवंतराव चव्हाण मुक्त विद्यापीठ से उन्होंने पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की और इसी विद्यापीठ में वृत्तपत्र विभाग में प्रोफेसर एवं संपादक रहे। इसी विद्यापीठ से संचालक पद से निवृत्त हुए। पैंसठ वर्ष की आयु की एक लम्बी यात्रा उन्होंने तय की। कभी टेलिफोन आपरेटर तो कभी अत्यंत सामान्य व्यक्ति की चाकरी कर चार पैसे पाने की आशा से वे कड़ी मेहनत करते थे। दलित, उपेक्षित, तिरस्कृत, अवहेलित, निर्वासित, सवर्णो द्वारा दुतकारे गये, अपमानित, लांछित जीवन की सच्ची दास्तान "अक्करमाशी" है।

दलित पैन्थर के वे एक सक्रिय कार्यकर्ता रहे। छात्र जीवन से ही वे उसकी ओर आकृष्ट हुवे थे। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरजी तो उनके दैवत ही थे। मराठवाडा विद्यापीठ नामांतर आंदोलन ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। इस काल के विचारों से वे इस कदर प्रभावित हुए कि उन्होंने इस काल को जीवन की "प्रयोग शाला" कहा है। जिसमें विचार प्रबुद्ध हो रहे थे। लेखन में रुचि तो थी ही, कविता कथा तो लिखते ही थे और "अस्मितादर्श" मासिक पत्रिका में छपने भी लगे थे। दलित साहित्य लेखन करते नामदेव ढसाल, दया पवार, राजा ढाले, बाबूराय बागुल जैसे लेखकों के विचारों से भी इनमें लेखन की भूमि तैयार हो रही थी। लक्ष्मण गायकवाड का "उचल्या" याने "उठाई गिर", "उपरा" याने "उचक्का", बाबूराव बागुल का "मैंने जात चुराई" जैसे उपन्यास तो लिखे गये थे और साहित्य जगत में ये चर्चित भी थे। पर शरण कुमार लिंबाले पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दलितों के जीवन को केन्द्र में रख कर उपन्यास में विस्तृत फलक को बांधने की दिशा में पहल की। उन्होंने उपन्यास के लिए साधन सामग्री जुटाने के लिए दलित समाज के विविध पक्षों और पहलुओं के विचार केन्द्र में रख कर गहन अध्ययन किया। दलितों को अवहेलित करने के कारणों की मीमांसा करते इतिहास को खंगाला।

दलितों का प्रश्न सिर्फ एक प्रान्त, एक राज्य, एक भाषा तक ही सीमित नहीं अपितु विश्व की भाषाओं में इस विकट प्रश्न को लेकर चर्चा हुई है। उसका स्वर कहीं उच्च तो कहीं दबा-दबा सा रहा। अमेरिका में श्वेत-श्याम का झगड़ा सर्वश्रुत है। कई सिनेमा बने और ढेरों डाक्युमेंटरी बनी। जिसने दलितों की व्यथा कथा को चौहाट्टे पर लाकर खड़ा कर दिया। सामान्य से सामान्य व्यक्ति, पढ़ अनपढ़, नागरी हो या ग्रामीण, सवर्ण हो या अवर्ण, ऊँच हो या निम्न सभी ने इसकी यथार्थता को जाना समझा अनुभव किया। उससे बोध लिया तो कुछ आक्रामक और विद्रोही भी बन गये। कुछ ने समाज को बदलने का बीड़ा ही उठा लिया। "सनातन" उपन्यास शरण कुमार लिंबाले के अनेक वर्षो के गहन अध्ययन मनन चिंतन का परिपाक है। उन्होंने भारतीय भाषाओं हिन्दी, बंगला, गुजराती, मल्याली, तेलगु भाषाओं में लिखे गये दलित साहित्य का गहन अध्ययन किया। कारणों की

खोज की। जीवनवादी विचार इसके मूल में है। हजारों वर्षों से दलित दुत्कारे गये। उनका शोषण किया गया। उन्हें गांव बस्ती के बाहर खदेड़ा गया। उनके जीवन जीने के अधिकार उनसे छीन लिए गए। सत्ताधारियों ने दलितों मजदूरों का शोषण किया, श्रम ही उनकी पूंजी रही। अजंता बेरूल की गुफाओं का अजर-अमर शिल्प स्थापत्यकला का उत्कृष्ट रूप, कोणार्क का सूर्य मंदिर सौन्दर्य का गौरी शंकर और ताजमहल जैसे विश्व सराहनीय शिल्प में दलितों श्रमिकों का खून पसीना ही तो बोल रहा है। इसे कोई कैसे झुठला सकता है? "सनातन" उपन्यास में शोषित, पीड़ित, अवहेलित, तिरस्कृत, सुख सुविधाओं से वंचित इसी दलित वर्ग की व्यथा कथा को उकेरा गया है। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें दलितों द्वारा भोगे गये जीवन-भोग को देख सकते हैं। हमारे देश के लिए जाति व्यवस्था अभिशाप रही है। संतों ने "जाति न पूछो साधु की" का नारा लगाया था, "जाति पाति पूछे नहिं कोई हरि को भजे सो हरि का होई" का आग्रह पकड़ा था। कबीर, रैदास, धन्ना, पलटू, चोखा मेला, सावता माली ने जाति व्यवस्था पर घोर प्रहार किया। अक्खड और फक्कड़ कबीर ने तो सवाल किया 'तू बामन और बाट से आया? संत ज्ञानेश्वर, निवृत्ति, सोपान देव, मुक्ताबाई को सन्यासी की औलाद कह जो प्रताड़ना की गई, वह सर्वश्रुत है। इसी क्रम में शरण कुमार लिंबाले एक सजग लेखक हैं। दलित साहित्य के अध्येता शरण कुमार जी ने कुछ माह पूर्व ही (भारतीय दलित साहित्य एक आकलन) चार सौ अठ्ठासी पृष्ठों में लिखा ग्रन्थ साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित हुआ है जिसमें दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या, समस्या और समाधान है। "सनातन" उपन्यास अनेक विचार, अनेक प्रश्न और अनेक समस्याओं के समाधान के लिए एक विस्तृत फलक है। डॉ. पद्माजा घोरपड़े द्वारा अनुवादित वाणी प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित सनातान उपन्यास को के. के. बिड़ला ने वर्ष 2020 का सरस्वती पुरस्कार प्रदान कर प्रबुद्ध समाज को स्वस्थ्य दृष्टि से विचार करने के लिए विस्तृत आकाश दिया है। दलित भी जीता जागता इन्सान है। उसमें भी मन है, भाव है, भावना है, उसकी रगों में बहते खून का रंग भी लाल ही है। उसे मनुष्य समझा जाय। उससे मानवोचित व्यवहार किया जाय। उदात्त उन्नत मंगलकारी भावना।

सर्वे भद्राणि पश्यन्ति मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत् "सनातन" उपन्यास में है।

डॉ. विद्या केशव चिटको
"यमाई" 8अक्षर सोसायटी समर्थनगर
नासिक-422005, मो.- 9527313387
ईमेल-chitkovidyak@gmail.com

महिला उपन्यासकारों की स्त्री

बीसवीं सदी के आखिरी पाँच दशक भारतीय महिला के लिए खास महत्वपूर्ण रहे । शिक्षा, साक्षरता, सूचना प्रौद्योगिकी, संचार माध्यम में आयी क्रांति और आंदोलनों ने महिला जीवन में सजगता उत्पन्न की। महिला अपने समाज एवं संवैधानिक अधिकारों से परिचित हुई। राजनीति, प्रशासन, वाणिज्य, सूचना प्रौद्योगीकि, रोजगार आदि क्षेत्रों में महिला ने अपनी क्षमता एवं योग्यता दिखायी।

भारतीय महिला की दयनीय स्थिति से परिचित महिला लेखिकाएं- कृष्ण सोबती, मन्नू भंडारी, शिवानी, उषा प्रियवंदा, मालती जोशी, शशिप्रभा शास्त्री, मेहरूनिन्नसा परवेज, नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अमृता प्रीतम, मंजुल भगत, कृष्णा अग्निहोत्री, राजी सेठ, सूर्यबाला, निरूपमा सेवती, रमणिका गुप्ता, सिम्मी हर्षिता, अलका सरावगी, गीतांजलि श्री, महुआ माजी, मीनाक्षी पुरी, उषा यादव, कुसुम अंसल, नमिता सिंह, ममता कालिया आदि ने अपने उपन्यासों में महिला मुक्ति आंदोलन के मुद्दों पर प्रकाश डाला। इनके उपन्यासों में इनके निजी अनुभवों को सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न महिला मुक्ति के मुद्दों के संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है। इन महिला लेखिकाओं ने हिंदी

उपन्यास साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाई है। डॉ. रामदरश मिश्र के कथनानुसार- "न तो ये लेखिकाएं पुरुष लेखकों की तरह नारी को महिमान्वित करती हैं और न उन्हें नकली रूप में पीड़ित। अपनी समूची परिणतियों के साथ एक विशेष दायरे की आज की जो नारी है उसकी विशेष पहचान ये उभारती हैं।"

उदाहरणार्थ बालक की जिंदगी को आधार बनाकर लिखा गया हिंदी का सबसे सफल और कलात्मक उपन्यास है मन्नू भंडारी का- 'आपका बंटी'। इसकी स्थूल कथा काफी संक्षिप्त है जिसे मन्नूजी ने बड़े कौशल से उपन्यास में विस्तृत किया है। सुशिक्षित आधुनिक पति-पत्नी के अहं के टकराव से तनाव और फिर संबंध विच्छेद, महिला-पुरुष काम संबंध को सौंदर्य सृष्टि के साथ अंकित करना हर रचनाकार के वश की बात नहीं होती है। प्रायः रचनाकार इस तरह के नाजुक विषय को उठाकर भटक जाते हैं। पिछले दशकों के बहुत से उपन्यासों में काम संबंध का चित्रण बेहद उत्तेजक और अप्रासंगिक दृष्टि से हुआ है। कृष्णा सोबती ने 'सूरजमुखी अंधेरे के', में सृजनात्मक कल्पना और कलात्मक रचना प्रक्रिया से इसे नया अर्थ दिया है। कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' एक बड़े फलक पर लिखी गयी जीवनगाथा है जिसमें समाजशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र की नयी खोज को फेंट कर उपयोग किया गया है। 'मित्रो मरजानी' और 'यारों का यार' में लेखिका का नया भाषा संसार है और शैली में हंसती हुई दूब की दमक है।

मेहरूनिन्सा परवेज को मुसलमान और ईसाई दोनों समाजों का अंतरंग अनुभव है वैसे ही नासिरा शर्मा को मुसलमान और हिंदू दोनों समाजों का, और यह उनके उपन्यासों में प्रतिबिंबित हुआ है। उनके उपन्यासों में वस्तुगत विविधता है। वे अपने दूसरे उपन्यास 'शाल्मली' में हिंदू समाज में दांपत्य जीवन में यातना भोगती महिला का चित्र उपस्थित करती हैं। स्त्री हिंदू समाज में ही यातनाग्रस्त नहीं है, मुस्लिम समाज में उसकी स्थिति और भी खराब है, यह बात हमारे सामने उनके उपन्यास 'ठीकरे की मंगनी' में आती है। 'जिंदा मुहावरे' में उन्होंने भारत के विभाजन का और इस विभाजन के कारण भारत और पाकिस्तान दोनों में मुसलमानों के भी पीड़ित होने के रूप में विभाजन का विरोध किया है। नासिरा शर्मा ही नहीं नयी पीढ़ी की तमाम हिंदी लेखिकाओं की चिंता के केन्द्र में वर्तमान बदलते समाज में महिला की स्थिति का प्रश्न है। विवाह, प्रेम, यौनशुचिता, परिवार, बच्चे, आर्थिक आत्मनिर्भता, निर्णय लेने की स्वाधीनता आदि से संबंधित समस्याओं का चित्रण लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में किया है। सुनीता जैन ने प्रायः सभी उपन्यासों में असफल विवाह और जो तमाम आधुनिकता के बावजूद हमारे समाज में विसंगतियाँ विद्यामान हैं लेखन किया है और जब कोई इन पर उंगली उठाता है तो पारंपरिक समाज का विरोध उसे झेलना पड़ता है, जो 'बोज्यू' उपन्यास लिखने पर सुनीता जैन को झेलना पड़ा। उनके लेखन में विद्रोह का भाव प्रायः नहीं है लेकिन ममता कालिया के उपन्यासों में यह विद्यमान है। मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यास 'चितकबरा' में नारी के तन और मन-वासना व प्रेम के द्वैत को चित्रित करने के लिए जब संभोग के कुछ साहसिक चित्र प्रस्तुत किए थे तो हंगामा मच गया था। बाद में उन्होंने विभिन्न नारियों की दृष्टि से तन और मन के द्वंद्व को 'कठगुलाब' में फिर उठाया।

स्त्री जीवन की समस्याओं की सामान्य भूमि का स्पर्श करते हुए प्रत्येक उपन्यास लेखिका का अपना विशिष्ट अनुभव संसार है जिसे उसने अपनी कृतियों में अभिव्यक्त किया है। मंजुल भगत ने मध्यवर्गीय परिवारों में चौका बर्तन करने वाली या इसी प्रकार के अन्य छोटे-मोटे काम करके अपनी जीविका कमाने वाली स्त्रियों को अपनी सहानुभूति का पात्र बनाया है।' इस दृष्टि से 'अनारो' उनका प्रतिनिधि उपन्यास है। ऋता शुक्ल के उपन्यासों में हमें बिहार के विशिष्ट आंचलिक जीवन चित्र मिलते हैं। राजी सेठ अपनी दार्शनिक चिंतनशीलता के कारण हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। अपने पहले ही उपन्यास 'तत्सम' में एक छोटी सी प्रेमकथा के माध्यम से

उन्होंने नारी जीवन की सार्थकता पर विचार किया है और भारतीय एवं पाश्चात्य जीवनदर्शन की तुलना प्रस्तुत की है। दिनेशनंदिनी डालमिया ने अपने उपन्यासों में अपने भोगे हुए यथार्थ के विभिन्न चित्र प्रस्तुत किए हैं। शशिप्रभा शास्त्री का झुकाव भारतीय जीवन मूल्यों की ओर रहा है, वे नारी के विद्रोह और स्वाधीनता की खोज की अपेक्षा उसके त्याग, सेवा-भाव, समर्पण आदि को अधिक महत्व देती हैं।

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में आधुनिक बोध देख सकते हैं। इनके उपन्यासों के महिला पात्र रूढ़ि मुक्त हैं तथा रूढ़ि-परंपराओं, मान्यताओं और नैतिकता अनैतिकताओं से परे, तन और मन दोनों को समझने की विवेकी एवं सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करते हैं। कृष्णा सोबती के उपन्यासों में शील अश्लील जैसे नैतिक अनैतिक प्रश्न उठाए गए हैं। 'डार से बिछुड़ी' से अपनी औपन्यासिक यात्रा प्रारंभ कर के 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अंधेरे के' और 'जिंदगीनामा' में स्त्री स्वतंत्रता एवं समानता पर प्रकाश डाला है। मन्नू भंडारी के उपन्यासों में स्त्री के जीवन की सच्चाइयों की मनोवैज्ञानिकता मिलती हैं। इनके उपन्यास 'आपका बंटी', 'एक इंच मुस्कान' तथा 'महाभोज' पाश्चात्य परिवेश में दाम्पत्य जीवन में स्त्री समस्याओं को चित्रित करते हैं। शिवानी अपने नायिका प्रधान उपन्यासों में नारी हृदय की भावनाओं को उभारकर नारी पात्रों को अविस्मरणीय रूप में प्रस्तुत करती हैं। इनका 'कृष्णकली' उपन्यास समय की दृष्टि से प्रस्तुत सामंतकालीन एवं स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के आधुनिक जीवन को चित्रित करता है। उनकी 'विषकन्या' एक मर्मस्पर्शी उपन्यास है। यह एक रोचक उपन्यास है। उषा प्रियवंदा अस्तित्ववादी जीवन दर्शन से प्रभावित लेखिका हैं। 'रुकोगी नहीं राधिका', 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', 'शेषयात्रा', 'अंतवर्शी' उपन्यासों के सभी पात्र किसी भी स्तर पर जीते हुए विवेक के तरफदार हैं। 'शेषयात्रा' उपन्यास में आधुनिक नारी की समस्या को ही केन्द्र में रखा गया है किन्तु यहाँ वह असहाय और असुरक्षित नहीं है। 'अंतर्वशी' में उस आधुनिक भारतीय नारी की तस्वीर उकेरी गयी है जो कठिन और विपरीत परिस्थितियों में भी अपने लिए नया और सार्थ मार्ग चुन पाने में समर्थ हो रही है। प्रवासी नारी की समस्याएं, विदेश में बसे युवकों के मध्यवर्गीय परिवारों की कन्याओं से विवाह से उत्पन्न संघर्ष मोहभंग और अनंतद्वंद्व आदि का 'अंतर्वशी' में अंकन है।

जिनका हर उपन्यास अंत में उदात्त की भावभूमि में जाकर समाप्त हो जाता है तथा एक ओर परंपरा का निर्वाह और दूसरी और आधुनिकता में अद्‌भुत समन्वय के आधार पर मालती जोशी ने अपनी अनुभूतियों को कागज पर उकेरा है। 'निष्कासन' उपन्यास में एक दूसरे से सुख की पूर्ति करने की पति-पत्नी की चाह बताई है, नारी के मन की तड़प घुटन और व्यथा का वर्णन है। 'ज्वालामुखी के गर्भ में' उपन्यास में युवा-पीढ़ी की संवेदना, मानसिक द्वंद्व से पीड़ित नारी का चित्रण है। शशिप्रभा शास्त्री अपने अनुभवों के आधार पर पाठकों के सामने नारी यथार्थ प्रस्तुत करती हैं। 'नावें' उपन्यास में शादी के पहले औरत के माँ बनने से उत्पन्न विसंगत स्थितियों मन:स्थितियों और भटकाव की संघर्षपूर्ण कथा है। उपन्यास में लेखिका ने नारी के मन की भावनाओं का अच्छा वर्णन किया है।

मेहरूनिस्सा परवेज का 'अकेला पलाश' उपन्यास बदलते सामाजिक संदर्भो को आत्मसात किए हुए है। नासिरा शर्मा 'शाल्मली' में हिंदू समाज में विषम दांपत्य जीवन में यातना भोगती स्त्री का चित्र उपस्थित करती हैं। 'ठीकरे की मंगनी' में नासिरा शर्मा ने नारी की राह चुनने की आजादी की चेतना को सार्थक ढंग से रूपायित किया है। चित्रा मुद्‌गल के 'एक जमीन अपनी' में बंबई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म, देह व्यापार आदि का चित्रण किया है। इनके 'आवां' उपन्यास में उपभोक्ता संस्कृति के जाल में फंसी स्त्री की समस्याएं, उत्पीड़न, संघर्ष, पूंजीपति वर्ग के शोषण आदि को चित्रित किया गया है। प्रभा खेतान का 'पीली आंधी' उपन्यास में नारी का शोषण एवं विद्रोह चित्रित हुआ है। इनका दूसरा उपन्यास

'छिन्नमस्ता' का केन्द्रीय पात्र प्रिया है जिसका संघर्ष अपने परिवेश एवं स्त्री को तुच्छ वस्तु समझने वाले समाज से है। 'छिन्नमस्ता' में आधुनिक स्त्री की गाथा है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्नमम' में विंध्याचल की पहाड़ियों से घिरे श्यामली और सोनपुरा गाँव की तीन पीढ़ियों बऊ, प्रेम और मंदा के द्वारा स्त्री संघर्ष की गाथा है। मृदुला गर्ग ने 'मैं और मैं' उपन्यास में स्त्री को अपने सीमित क्षेत्र परिवार से हट कर एक अलग विषय पर कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनका 'कठगुलाब' में स्त्री के दमन-शोषण एवं सघर्ष की गाथा प्रस्तुत है। इसमें नारी जीवन की व्यथा एवं वेदना एवं अन्याय के विरुद्ध किए गए उसके विद्रोह का चित्रण मुख्य रूप से किया गया है। ममता कालिया के उपन्यास 'एक कली के नोट्स' में शिक्षित कविता के द्वंद्व और संदीप के माध्यम से आदिम पुरुषवादी मानसिकता का सफल प्रदर्शन है।

20वीं सदी में स्त्री-शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार, नारी संगठनों द्वारा क्रांतिकारी अधिकारों की लड़ाई, आधुनिकता सूचना तकनीक, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद बाजारवाद, विज्ञापनवाद, नवीन सोच, विदेशी प्रभाव, रोजगार के नये अवसरों और स्त्री विषयक परिवर्तित दृष्टिकोण ने स्त्री-मुक्ति आंदोलन को नया उत्साह प्रदान किया। महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री-मुक्ति आंदोलन से जुड़े अहम् मुद्दे, नारी के दमन शोषण एवं संघर्ष अन्याय अत्याचार का विरोध, स्त्री की स्वतंत्रता एवं समानता तथा नौकरीपेशा एवं कामकाजी नारी समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए भारतीय स्त्री-मुक्ति-आंदोलन में अपना योगदान समर्पित कर उत्साह प्रदान किया है।

हिंदी का महिला उपन्यास लेखन पर्याप्त संपन्न है। इन्होनें अपने उपन्यासों में नारी के बहुरंगी बहुआयामी व्यक्तित्व के चित्रण के साथ-साथ अन्य समाजिक विषयों को भी कथ्य बनाया है। इनमें सृजनात्कता है, कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विविधता एवं नूतनता है, लेखन अत्यंत व्यापक, गहन एवं प्रभावशाली है।

डॉ. वासुदेवन 'शेष'
चेन्नई, मो. 9444170451

प्राचीन भारतीय ताल-वाद्य : तबला

ताल वाद्य किसी भी अन्य वाद्य यंत्र की तुलना में पहले चलन में आया। तबला को एक मेम्ब्रानोफोन के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, एक ऐसा उपकरण जिसमें एक खिंची हुई त्वचा के कंपन से ध्वनि उत्पन्न होती है। तबले की उत्पत्ति और इसके उपयोग में कई परस्पर विरोधी सिद्धांत हैं। कुछ पंडितों का मत है कि तबला की उत्पत्ति "ताबोर" नामक एक अरबी वाद्य यंत्र से हुई है, जबकि अधिकांश अन्य पंडितों का कहना है कि वह 13वीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल के दौरान अमीर खुसरो द्वारा इसे खोजा गया था। यह मृदंग या पखावाज (एक प्राचीन ताल वाद्य) के समान है, जिसके बारे में कहा जाता है कि इस ताल वाद्य को दो भागों में विभाजित करके तबला बनाया गया था। तबला को, तबले के दिल्ली घराने के प्रमुख व्यवसायी और संरक्षक उस्ताद उद्दार खान द्वारा लोकप्रिय बनाया गया था।

घरानों का नाम उन भौगोलिक क्षेत्रों के नाम पर रखा गया जहां संस्थापक मूल रूप से रहते थे। इन घरानों में अलग-अलग तरीके और परंपराएं रही जिन्होंने उनकी शैलियों को विशिष्ट पहचान दी। वर्तमान समय में, तबला के समृद्ध क्षेत्र में छह मान्यता प्राप्त, प्रमुख घराने हैं, जिनके बारे में कहा जाता है कि प्रदर्शनी की सूची और प्रदर्शन शैली के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। ये हैं दिल्ली घराना, लखनऊ घराना, फरुखाबाद घराना, बनारस घराना, अजरदा घराना और पंजाब घराना।

अतीत में, गुरु (शिक्षक) अपनी शैलीगत परंपराओं के विवरण के बारे में जानकारी देने में बेहद गुप्त और अनिच्छुक रहते थे कि उनके प्रदर्शनों की सूची, तकनीक और छूत के तरीके क्या हैं। इसलिए, एक छात्र को ज्यादातर केवल एक घराने

का पूरा ज्ञान होगा और अन्य सभी घरानों के ज्ञान से वह अवगत नहीं होगा। हालांकि, वर्तमान समय और युग में और आधुनिक संचार प्रणालियों ने दुनिया को बहुत छोटा और खुला स्थान बना दिया है, अत: ये कड़े संरक्षित रहस्य और परंपराएं अब व्यापक रूप से ज्ञात हो गई हैं। विभिन्न घरानों की ऐतिहासिक रूप से विशिष्ट शैलियाँ जो परंपरागत रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी या कुछ चुने हुए छात्रों को हस्तांतरित की जाती थीं, अब एक दूसरे को ज्ञात हो रही हैं। शायद, आने वाली पीढ़ियों के लिए, इन अनूठी परंपराओं का बहुत कम अर्थ होगा और विभिन्न शैलियों को मुश्किल से अलग किया जा सकेगा।

प्रत्येक तबला वादक को ट्यूनिंग विधियों में बहुत अच्छी तरह से प्रशिक्षित होने की आवश्यकता है। निर्दोष संगीत के लिए सटीक ट्यूनिंग एक पूर्वापेक्षा है। धुन से तबला लय से बाहर होगा तो वादक के साथ-साथ संगीतकार, गायक का भी ध्यान भटकाएगा। दायें तबले को सा (दोह) के साथ ट्यून किया गया है, जो एक पैमाने का शीर्ष नोट है जो सी भी है, उच्च सप्तक का मूल नोट। कभी-कभी इसे संगीकतकार के मूल नोट सा (दोह) के मा (फा) या पा (सोह) से जोड़ा जाता है। तबले की एस परिधि के आधार पर उच्च या निम्न पिच ट्यूनिंग सी होनी चाहिए, चयनित। परिधि जितनी चौड़ी होगी और तबले की ऊंचाई जितनी अधिक होगी, ध्वनि की पिच उतनी ही कम होगी। तबला की ट्यूनिंग मुश्किल है और इसमें महारत हासिल करना बहुत मुश्किल है। इसके लिए काफी अभ्यास की आवश्यकता होती है क्योंकि स्वीकार्य अनुवादन के लिए तबले के चारों ओर प्रत्येक खंड को एक निश्चित नोट पर एकसमान रूप से ट्यून करने की आवश्यकता होती है। तबले को ट्यून करने के लिए गोल सिरों वाला एक छोटा ठोस लोहे का हथौड़ा प्रयोग किया जाता है। तबला के लकड़ी के टॉगल (गत्था) और पगड़ी को ऊपर और नीचे की ओर घुमाकर ध्वनि की पिच को बढ़ाने या घटाने के लिए ट्यून किया जाता है। एक बार तबले के एक हिस्से को सही पिच पर ट्यून करने के बाद, अगले हिस्से पर जाने के लिए तबले को दक्षिणावर्त घुमाना पड़ता है। तबले के हर हिस्से को समान रूप से ट्यून करना पड़ता है, जिसके विफल होने पर पूरे प्रदर्शन के दौरान एक ही पिच को बनाए रखना बहुत मुश्किल होगा। हालांकि, इसे संगीतकार के लिए मूल नोट (सा) के निचले सप्तक में ट्यून किया जा सकता है।

तबले को धुनते समय बाएं हाथ से हथौड़े का प्रयोग करना चाहिए, एस. गट्टा या पगड़ी पर प्रहार करना चाहिए। साथ ही सूर/मैदान के संपर्क में आने वाली मध्यमा अंगुली से सूर/मैदान पर दाहिनी तर्जनी से प्रहार करते रहना चाहिए। एक बार जब मैदान मारा जाता है, तो 'टिन' ध्वनि प्राप्त करने के लिए उंगलियों को मैदान से हटा दिया जाना चाहिए। यह वांछित पिच हासिल होने तक किया जाना चाहिए। रास्ते में एक छोटे से अंतर के लिए पगड़ी को मारा जाना चाहिए और एक बड़े अंतर के लिए गत्था को मारा जाना चाहिए। पिच की तीव्रता के एक हिस्से को ट्यून करने के बाद, इसे विपरीत दिशा में ट्यून करने के लिए 180 डिग्री और बाद में चारों कोनों को ट्यून करने के बाद, संगीतकार के मूल नोट से मेल खाने के लिए चारों ओर ट्यून करना आसान हो जाता है। वांछित चौतरफा ट्यूनिंग प्राप्त करने के लिए इस प्रक्रिया को दोहराया जा सकता है। तबला दुनिया में सबसे महत्वपूर्ण ताल वाद्यों में से एक के रूप में प्रतिष्ठित है और भारतीय संगीत के संदर्भ में तो अपूरणीय है। तबले के बिना भारतीय शास्त्रीय संगीत की कल्पना नहीं की जा सकती। यद्यपि इस उपकरण की उत्पत्ति के बारे में कई मिथक है परंतु इसका वादन सदियों से संगीतकारों द्वारा सावधानीपूर्वक और समर्पित शोध का परिणाम है, जिसके कारण इस परिष्कृत उपकरण का निर्माण हुआ है।

Sabyasachi Chattopadhyay
55, Ram Chandra Chtterjee Road
P.O.- Panihati
Kolkata - 700 114
Contact No : 09777 049062

प्रतिस्वर

श्री भगवान सहाय त्रिवेदी ने वैचारिकी, भाग 38, अंक 1 में प्रकाशित अपने निबन्ध में (38-45) शब्द की महिमा का जो प्रतिपादन किया है, वह उनकी पैनी दृष्टि और भाषा के शुद्ध प्रयोग की प्रतिबद्धता का परिचायक है। ज्ञान का समूचा प्रासाद शब्द की अविचल नींव पर ही स्थित है। शब्द के अभाव में मानव जाति और उसके क्रियाकलाप की क्या गति होती, उसका अनुमान करना कठिन नहीं है। दण्डी के शब्दों में समग्र सृष्टि शब्द की ज्योति से ही आलोकित है, उसके बिना वह अन्धकार के महासागर में डूब जाती। सही स्थान, अवसर पर सही शब्द का प्रयोग करना एक कला है, जो भाषा शास्त्र की बारीकियों के परिज्ञान तथा प्रमाण-भूत कवियों और रचनाकारों के साहित्य के सजग परिशीलन से प्राप्त होती है। किन्तु खेद, शब्द के सम्यक ज्ञान और प्रयोग की वकालत करते-करते त्रिवेदी जी स्वयं उसके सम्यक् प्रयोग से विचलित हो गये हैं। **तलाक/डिवोर्स, विवाह का विलोम** नहीं है, वह उसके विच्छेद की प्रक्रिया का वाचक है। विवाह का विलोम अविवाह/कुंवारपन ही हो सकता है। हिन्दू समाज में विवाह भले ही पवित्र संस्कार अथवा जन्म-जन्म का बन्धन माना जाता है, किन्तु वह भी तलाक के अभिशाप से सर्वथा मुक्त नहीं था। कौटिल्य ने उसके लिये मोक्ष शब्द का प्रयोग किया है-- पर स्परद्वेषा-मोक्षः (अर्थशास्त्र, 3.3.16)। पति-पत्नी में निरन्तर कलह-फसाद रहने पर एक दूसरे से मोक्ष या तलाक लेना बेहतर है। सब-सारा, जन-लोक आदि तथा कथित समानार्थक शब्दों के प्रयोग-भेद और प्रकारान्तर से अर्थ-भेद को उदाहृत करते हुए त्रिवेदी जी ने भाषा की एक मनोरम प्रवृत्ति की ओर संकेत तो किया है पर वे उसे पल्लवित करने से चूक गये हैं। **पर्यायवाची शब्दों का यथार्थ स्वरूप क्या है?** यह यक्ष प्रश्न युगों से भाषाविदों तथा भाष्यकारों को मथता चला आ रहा है। यदि उन्हीं शब्दों को पर्यायवाची माना जाए, जो किसी अर्थ को उसकी समस्त भंगिमाओं और बारीकियों के साथ व्यक्त कर सकें, तो पर्यायवाची शब्दों का अस्तित्व ही खटाई में पड़ जाएगा। कोई भी दो शब्द एक अर्थ की सम्पूर्ण भाव-सम्पदा को उजागर करने में समर्थ नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि जो शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रचलित हैं, वे वस्तुतः अर्थ-प्रर्याय हैं। उनमें अर्थैक्य नहीं, अर्थ सामीप्य है। इस अर्थ सामीप्य तथा उसके फलस्वरूप उनके मिले-जुले प्रयोग के कारण उन्हें धीरे-धीरे समानार्थक मान लिया गया, यद्यपि उससे उनका अर्थभेद तिरोहित नहीं हो गया। क्षीरस्वामी ने पर्यायत्व की इस प्रक्रिया को बहुत कुशलता से निरूपित किया है-- पर्यायत्वं त्वविदूर प्रकर्षत्वात्। वेद, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, भागवत पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में तथाकथित पर्यायों के सहप्रयोग (साथ-साथ प्रयोग) से स्पष्ट है कि वे एक अर्थ के वाचक नहीं हैं। पाठकों को जान कर आश्चर्य होगा कि यश-कीर्ति, लता-वल्ली, वन-अरण्य, अश्व-वाजी, निन्दा-परीवाद आदि समानार्थक रूप से मान्य शब्द-युग्मों के अर्थ में भी अन्तर है। वे पूर्णतः पर्यायवाची नहीं हैं।

अन्यथा उनके सहप्रयोग का कोई औचित्य ही नहीं है। सब-सारा, जन-लोक आदि शब्द भी समानार्थक नहीं हैं। त्रिवेदी जी ने उनके अर्थों के अन्तर को प्रयोगों द्वारा प्रकट करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। अन्य स्वयम्भू पर्यायों के अर्थभेद को भी इस विधि से उजागर करना उपयोगी होगा।

भगवान सहाय जी ने छोटा-बड़ा और तत्सम शब्द युग्म लघु-दीर्घ की निबन्ध में विस्तार से तनकीद की है। उनके अनुसार छोटा-बड़ा आकार और आयु दोनों के वाचक हैं। *किन्तु संस्कृत में आकार वाचक और आयु वाचक दो अलग-अलग विशेषण प्रयुक्त होते हैं।* वहाँ आकार के लिये लघु और दीर्घ तथा आयु वाचक कनिष्ठ और जेष्ठ (ज्येष्ठ) दो अलग-अलग शब्द युग्म विद्यमान हैं (पृ. 49)। यह मात्र 'क्षिप्रोक्ति' है- अर्थात जल्दबाजी में निकाला गया निष्कर्ष। लघु-दीर्घ को आकार की परिधि में सीमित करना तथ्यों के विपरीत है। ये दोनों शब्द मुख्यार्थ के अतिरिक अनेक लाक्षणिक व आलंकारिक अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। प्रामाणिक कोष के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाएगा। त्रिवेदी जी की दृष्टि में रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय, तृणादपि लघु स्तूलः, लघयन् खलु तेजसा महान् नेच्छाति भूति मन्यंतः, दीर्घाकुर्व-पटु मदकलं कूजित सारसानाम् आदि उक्तियाँ अवश्य आई होंगी और दीर्घायुर्भव आशीर्वाद तो यह देश आदिकाल से देता आ रहा है।

कनिष्ठ और ज्येष्ठ को केवल आयुवाचक विशेषण मानना भी उचित नहीं है। प्रत्येक संस्कृतज्ञ जानता है कि कनिष्ठ, अल्प तथा युवन् की (Superlative Degree) है और ज्येष्ठ प्रशस्य की। अतः कनिष्ठ का अर्थ है सबसे अल्प (हर दृष्टि से) तथा सबसे जवान, और ज्येष्ठ का अर्थ है सबसे प्रशंसनीय, सबसे बड़ा (हर दृष्टि से)। यदि इन्हें आयु तक सीमित कर दिया तो भी उनका क्रमशः सबसे छोटा और सबसे बड़ा अर्थ होगा। भाई का विशेषण मानने पर उनसे केवल सबसे छोटे और सबसे बड़े भाई का बोध होगा। मध्यवर्ती छोटे भाई-भाइयों को फिर क्या कहा जाएगा! सब छोटे भाइयों के लिये अनुज और सब बड़े भाइयों के लिये अग्रज का प्रयोग करने से समस्या की सरलता से निवृत्ति हो सकती है।

आमन्त्रण और निमन्त्रण के अर्थ-भेद का विवाद नया नहीं है। सामान्यतः दोनों को बुलावा (Invitation) का वाचक मानकर बिना भेद-भाव के इनका प्रयोग कर दिया जाता है। किन्तु यह जान कर आश्चर्य होगा कि कभी आमन्त्रण का अर्थ विदाई था। कालिदास ने इसका (आ-मन्त्र्) का इसी अर्थ में प्रयोग किया है-- चक्रवाकवधुके! आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी ; हे चकवी, रात हो गयी है, अब अपने साथी से विदा ले। अब आमन्त्रण सर्वथा विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होता है। त्रिवेदी जी ने अपनी दृष्टि से आमन्त्रण और निमन्त्रण के अर्थ में विवेक करने का प्रयत्न किया है। किन्तु आमन्त्रण को सार्वजनिक की परिधि में सीमित करना तथा निमन्त्रण को परिजनों- स्वजनों की चौहद्दी में बन्द करना खींचतान करने जैसा प्रतीत होता है। आमन्त्रण में आ-समन्तात् उपसर्ग की कदाचित् यह ध्वनि है कि आमन्त्रण का स्वीकार करना स्वैच्छिक था, निमन्त्रण में अनिवार्यता अथवा आग्रह का भाव है (नि उ नितराम्)।

रही बात अंक, अंग, संग आदि शब्दों में *अनुस्वार* या वर्ग के पंचम वर्ण (परसवर्ण) की, तो इसकी बहुत चर्चा हो चुकी है। संस्कृत के अधिकतर समकालीन लेखक भी पंचम वर्ण का मोह छोड़ कर अनुस्वार का प्रयोग सुविधाजनक मानने लगे हैं। कुछ कोषों में भी इसी विधि को अपनाया गया है। हिन्दी में इसका सबसे संगत तथा सरल समाधान यही होगा कि *हम अनुस्वार का प्रयोग भले ही करें किन्तु अनुस्वार के स्थान पर, बिना सोचे-समझे, न् का प्रयोग करने से बचें।* अंग, संग, पंचम, चंचल, कुंठित, गंगा आदि लिखना स्वीकार्य होगा पर चन्चल, धनन्जय, गुन्फित लिखना भाषा के प्रति अत्याचार होगा। इस प्रसंग में अंश आदि शब्दों पर त्रिवेदी जी का भाष्य स्वोपज्ञ ही कहा जाएगा। अम्ल भी इस कोटि का शब्द नहीं है। उसकी यहां चर्चा करना निरर्थक है।

वैचारिकी के इसी अंक में **श्री सीताराम गुप्ता** ने हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले अथवा प्रयुक्त न होने वाले उर्दू शब्दों के विकार, परिवर्तन, अर्थविपर्यय, नुक्ता तथा तज्जन्य अर्थभेद आदि के वाचस्पत्य का जो वितान खड़ा किया है (50-58), वह घनघोर बौद्धिक व्यायाम के रूप में ही अभिनन्दनीय हो सकता है। उर्दू से अनभिज्ञ पाठकों

के लिये वह मुष्टिहननन्याय (हवा में मुक्के मारना) का उत्तम उदाहरण है।

श्री सीताराम गुप्ता ने लेख में शब्दों की *वर्तनी रूप* के विषय में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का उल्लेख किया है- "कई बार जिन शब्दों के जो रूप अत्यधिक प्रचलित हो जाते हैं उन्हें पूरी तरह खारिज करना असम्भव हो जाता है" (पृ.56)। यही वह विवशता है जिसके कारण अनेक *'अपशब्द'* भाषा में घुलमिल जाते हैं और शनैः शनैः शुद्ध शब्दों को बहिष्कृत कर स्वयं 'मानक' रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इससे उद्विग्न होकर ही पतञ्जलि ने कहा था- - अल्पीयां सः शब्दाः, भूयांसोऽपशब्दाः। यह समस्या बहुत पुरानी है। स्वयं पाणिनि को भी इससे जूझना पड़ा था और आश्चर्य यह कि उस महामनीषी को भी विवश होकर भाषा में बहुप्रचलित अपशब्दों को मान्यता देनी पड़ी थी-- पृषोदरा दीनि यथो पदिष्टम्। कौन सूरमा अब मिष्ठान, दुष्चक्र, मनोकामना, मनोचिकित्सक, वात्सल्यमयी (पिता), स्त्रोत, अनुग्रहीत, अन्तर्सदन, निरोगी, हिन्दू आदि (अप) शब्दों को अशुद्ध कहने अथवा बहिष्कृत करने की हिम्मत कर सकता है।

सम्पादक महोदय ने (84-86) हिन्दी शब्दों की वर्तनी, स्वरूप, विन्यास, विसर्ग आदि की जिन विचारणीय समस्याओं को रेखांकित किया है, उनका विमर्श एक प्रबन्ध का विषय होगा। यहाँ हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले हलन्त शब्दों की चर्चा करना ही पर्याप्त होगा। हिन्दी के सुधी पण्डितों ने हलन्त शब्दों के स्वरूप को तत्परता से विकृत कर दिया है। सम्पादक महाशय का आग्रह कि कुछ हलन्त शब्दों को तो हिन्दी में यथावत् ग्रहण कर लिया जाए, शेष को हल चिह्न के बिना लिखा जाए (जैसा पहले से ही हो रहा है), भाषायी न्याय के विपरीत है। 'चित भी मेरा पट भी मेरा' वाली नीति भाषा के क्षेत्र में उचित नहीं है। *हलन्त शब्द को स्वेच्छा से अलन्त बना देना उसके स्वरूप को नष्ट करने के समान है।* इस भाषायी अपराध से बचना ही उचित है। भगवान्, हनुमान्, बलवान्, विद्वान्, धनवान् आदि लिखने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है।

डॉ. सत्यव्रत वर्मा,
7/34, पुरानी आबादी, नामदेव फ्लोर मिल के पास, श्रीगंगानगर-335001

'वैचारिकी' जनवरी-फरवरी 2022 अंक का सम्पादकीय पढ़कर अच्छा लगा। हिंदी में व्यवहार-चलन आदि को लेकर आपने विस्तार से व्याख्या की है। यह हिंदी भाषा के वर्चस्व की ओर संकेत ही नहीं बल्कि व्यापक रूप से उसके जनसधारण के बीच व्यवहार की ओर दृष्टि आकर्षित भी करती है।

मेरी समझ से भाषा *'स्रोतस्विनी नदी' की तरह होनी चाहिए। इसके व्यवहार में सांस्कृतिक, भौतिक समृद्धि की व्यापक गुंजाइश भी रहती है। इसे किसी वैधानिक अथवा व्यावहारिक प्रपंच से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए।* भाषाविदों ने किसी-किसी भाषा को 'अमृत-कलश' में ठहराये जाने वाला पुण्य प्रसाद मानकर अपनी तरह व्याख्यायित किया है, जो स्वयंसिद्ध नहीं है। भाषा चाहे हिंदी हो या अन्य, जन-मानस की भाषा होनी चाहिए, जो सरलता से समझी जा सके। व्याकरण के उपकरणों पर मुहर लगाकर इसे दुरूह अथवा दिग्भ्रष्ट करने की जरूरत नहीं है। भाषा जितनी दुरूह और क्लिष्ट होगी, वह जन साधारण के बीच से गायब होती जाएगी। भाषा का औचित्य यही है कि उपयुक्त समय और संयोग को ध्यान में रखते हुए इसे अधिक संप्रेषणीय और मधुर बनाया जाये।

उक्त संदर्भ में मुझे एक सम्मेलन में अपने 'स्वागत भाषण' में कहे गये वाक्यांश की याद आ रही है। मंच पर डॉ. नामवर सिंह, बांग्ला की व्याख्याकार श्रीमती महाश्वेता देवी, पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र उपस्थित थे। मैंने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा था -- 'आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह, हजार चौरीसी की मां महाश्वेताजी एवं आंगन की सुधि लेने वाले ललित निबंधकार श्री कृष्णबिहारी जी तथा दर्शक दीर्घा में बैठे सहभागीगण।' यह सम्मेलन 'हिं के वर्चस्व' को लेकर था। श्रीमती महाश्वेताजी ने अपने आरंभिक भाषण में कहा कि सिद्धेश्वर ने जो बातें कहीं, वह हिंदी नहीं है। मुझे लगा कि हिंदी भाषा का जो संस्कार है, उसमें यह अत्योक्ति की तरह है। बहरहाल, मैं कहना चाहता हूँ कि भाषा क्या किसी बंधे-बंधायी लीक पर चलती है? 'प्रवचन की भाषा' से बंधकर कोई भी भाषा बहुत दूर तक अपना वर्चस्व कायम नहीं कर सकती।

आपने शब्दावलियों में का-के-की को संयुक्त रखने

या न रखने की ओर संकेत किया है। इसे भी किसी व्यावहारिक चौखटे में नहीं रखा जा सकता।' इसी तरह विसर्ग, हलन्त आदि वैयाकरणिक तत्वों से नहीं जोड़ना चाहिए। हिंदी को अबाध और गतिशील रखने के लिए स्वतन्त्र रूप से व्यवहृत होने की छूट हो तो वह अधिक सरलीकरण और जन साधारण के लिए स्वीकृत भाषा का रूप ग्रहण कर सकती है। हिंदी में स्त्रीलिंग-पुलिंग की समस्या की वजह से अधिकतर अहिंदीभाषी लोग नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। यह तो अंगरेजी भाषा में भी 'शी' और 'ही' है? यह रहना चाहिए, जो कि बांग्ला भाषा में नहीं है। प्रत्येक भाषा का अपना संस्कार होता है। एक बार शान्तिनिकेतन में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से हिंदी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पूछा था- 'पंडित जी, आप कहां से आया?'- तो क्या हिंदी अशुद्ध हो गयी?

हिंदी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द निरन्तर प्रयोग में आ रहे हैं। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी के भी (प्रचलित शब्द) आने लगे हैं। आंचलिक भाषाओं के शब्द, वाक्य कथोपकथन में शामिल हैं। भोजपुरी, मैथिली, ओड़िया, छत्तीसगढ़ी, बिहारीपन की गन्ध और मधुरता भी मिलने लगे हैं। *इससे क्या संस्कृतिनिष्ठ भाषा हिंदी को कोई खतरा है? नहीं, इससे भाषा का विस्तार और उसकी गहराई का पता चलता है।* इससे भाषा समृद्ध होती है। सम्मिलित रूप से आवश्यकतानुसार इनका आना हिंदी को और भी व्यापक रूप से जनसाधारण को जोड़ती है। इन दिनों कथा-कहानियों में आदिवासियों के नाम और उनके बोलचाल के शब्द भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह शुभ लक्षण हैं। हिंदी लिपि (यानी, देवनागरी) में इसे वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

सिद्धेश
1/17, आदर्श पल्ली, रिजेन्ट एस्टेट
कोलकाता - 700092
मो. - 9830859660

लेख- भारतीय मूर्तिशिल्प में मिथुन मूर्तियां (अंक 2/2019) : पृ. 47- 'जिसने नारी को माँ के रूप में भी न देखा था, उसे संयमी कौन होगा?' संदर्भ एवं तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। विभिन्न काल एवं प्रान्तों में अनेक मंदिरों में मिथुन शिल्प बनाये गये थे। (जैन मंदिरों में भी, 350 वर्ष प्राचीन उदयपुर के जगदीश मंदिर में इत्यादि), इससे प्रतीत होता है कि ऐसे मिथुन शिल्प मंदिर-स्थापत्य का एक अंग बन चुके थे, प्रजा को उलझा कर रखना कारण नहीं था। सामान्य मनुष्य काम ग्रसित है, देवता भी इससे अछूते नहीं हैं। शिव पर कामदेव का बाण लगने पर उनमें काम उदय हुआ और वह योगी से गृहस्थ बन गये। कथा है- समुद्र मंथन के समय अमृत वितरण में दैत्यों को छलने हेतु विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किया था, शिव उस पर मोहित होकर उसके साथ हो लिए, इन दोनों की संतान केरल के वनक्षेत्र में मिली। आगे चलकर इन्हें ही 'अय्यपन स्वामी' कहा गया, जिनका मंदिर बरीमालाई में है।

जितेन्द्र नाथ जौहरी
E-234, सेक्टर-14, हिरण मगरी
उदयपुर - 313002 (राज.), मो. 800 3188 087

"वैचारिकी" के मई-जून अंक के सम्पादकीय से राणाप्रताप के आत्माभिमानी एवं संघर्षमय जीवन की विस्तृत जानकारी मिली। मेरी भी राणा प्रताप के प्रति गहन श्रद्धा है। चारों तीर्थ (पुरी, रामेश्वरम, द्वारिका एवं बद्रीधाम) करने पर पूर्णाहूति के रूप में हल्दीघाटी को पांचवां तीर्थ मानकर मैं कुछ वर्ष पहले वहां गया था। कुछ जगह वहांकी मिट्टी वास्तव में हल्दी के रंग की है। नमूने के तौर पर मैं कुछ मिट्टी ले आया था। उस मिट्टी से घर के सदस्यों एवं अन्यान्य के ललाट पर तिलक किया। वहां स्थित राणा प्रताप की तेजस्वी मूर्ति को नमन करने हेतु मैं खड़ा हुआ। मूर्ति के पास संगमरमर के पत्थर पर कुछ लेखन था। जैसे-जैसे मैं उस लेखन को पढ़ता गया मेरी आँखों से अश्रुधारा बहती गई। राणा प्रताप का नाम बहुत श्रद्धा एंव आदर से पूरे भारत में लिया जाता है। कुछ वर्षों पूर्व कलकत्ता के तिरहट्टी बाजार के पास महाराणा जी की भव्यमूर्ति स्थापित की गई है। राणा प्रताप उद्यान में भी राणा जी की भव्य मूर्ति स्थापित है।

गौरीशंकर अग्रवाल
फ्लैट नं. 5डी, "अक्षरा विलास" भवन,
43, डायमण्ड हारबर रोड,
कोलकाता - 700038, मो. : 9836811228

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551
ISBN : 978-81-89302-48-1

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379
ISBN : 978-81-89302-46-7

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287
ISBN : 978-81-89302-20-7

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409
ISBN : 978-81-89302-21-4

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468
ISBN : 978-81-89302-34-4

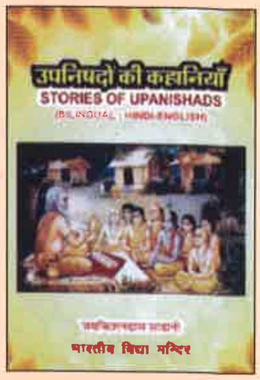

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208
ISBN : 978-81-89302-61-0

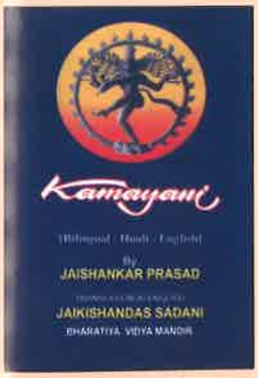

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477
ISBN : 978-81-89302-44-3

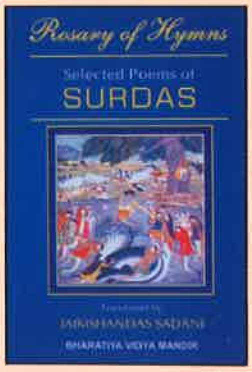

Rosary of Hymns
Tr. Jaikishandas Sadani
Rs. 150/- Pgs. 154
ISBN : 81-89302-01-9

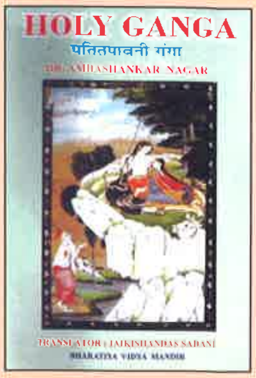

Holy Ganga
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 750/- Pages : 331
ISBN : 978-81-89302-62-7

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

VAICHARIKI Bi-Monthly • ₹70/- Sep-Dec 2022 R.N.I. No. 22298/71

From	TO
BHARATIYA VIDYA MANDIR 12/1, Nellie Sengupta Sarani Kolkata - 700087 *(W.B.)*	

G.D.M. Public School

Near Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for session -

2022-2023

Email- gdmpublicschool4922@gmail.com